प्रकाशक :

मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

द्वितीय सस्करण

जून, १९७२

मूल्य: दो रुपया पचास पैसे.

मुद्रक:

जैन आर्ट प्रेस

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर.

प्रकाशकीय

श्री जवाहर किरणावली की यह सम्यक्त्वपराक्रम नामक आठवी किरण है । प्रस्तुत किरण में उत्तराध्ययनसूत्र के सम्यक्त्वपराक्रम नामक २९ वे अध्ययन पर स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्री श्री १००८ श्री जवाहरलाल जी म सा द्वारा फरमाये गये प्रवचनो का सग्रह किया गया है ।

वैसे तो सम्पूर्ण उत्तराध्ययनसूत्र परम उपयोगी और जीवन को उन्नत बनाने वाली शिक्षाओ, आध्यात्मिक सिद्धातो से परिपूर्ण है । मगर सम्यक्त्वपराक्रम नामक यह २९ वा अध्ययन तो विशेष रूप से गम्भीर और ज्ञातव्य है । इस अध्ययन मे जैन धर्म का सार-तत्त्व आ जाता है । इस अध्ययन मे ७३ बोल हैं और वे सभी बोल आध्यात्मिक और धार्मिक भावना को जागृत करने वाले हैं ।

पूज्य आचार्य श्री जी म सा ने उक्त अध्ययन के बोलो की व्यापक व्याख्या करते हुए उन्हे खूब सरस और सरल बना दिया है । इन बोलो पर इतनी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या अभी तक किसी ने नही की थी । व्याख्या को पढने से स्पष्ट हो जाता है कि पूज्य आचार्य श्री जी की विचार-शक्ति कितनी गभीर और व्याख्या-शक्ति कितनी तार्किक और ओजस्विनी है ।

इस किरण मे सगृहीत व्याख्यान "श्री जवाहर व्याख्यान सग्रह" नामक गुजराती संग्रह मे दैनिक व्याख्यानो

के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं । यहां उन व्याख्यानो मे से सिर्फ सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन लिया गया है, जिससे विषय का प्रवाह खंडित होता हुआ न मालूम हो । ये व्याख्यान पाच भागो मे पूर्ण हुए है ।

सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन के ७३ बोलो में से इस पहले भाग मे सिर्फ चार बोल ही आ सके हैं और शेष बोलो के व्याख्यान आगे के दो से पाच भागो मे प्रकाशित हैं ।

श्री हितेच्छु श्रावक मडल रतलाम और श्री महावीर ज्ञानोदय सोसाइटी राजकोट के सहयोग से इन व्याख्यानों का पहला संस्करण समिति द्वारा प्रकाशित किया गया था। जिसके समाप्त हो जाने और तत्त्व-जिज्ञासु पाठको के आग्रह को ध्यान मे रखते हुए यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है ।

जवाहर किरणावली की अनुपलब्ध किरणो के प्रकाशन मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ और सघ द्वारा सचालित जैन आर्ट प्रेस का सहयोग प्राप्त है । एतदर्थ समिति की ओर से सघ का सधन्यवाद आभार मानते हैं ।

निवेदक

चंपालाल बांठिया

मन्त्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर-राजस्थान)

* विषयसूची





धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकुंवर बाई मालू बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिये प्रदत्त धनराशि से यह द्वितीय सस्करण का प्रकाशन हुआ है। सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

— मन्त्री

सम्यक्त्वपराक्रम

प्रथम भाग

सूत्रपरिचय (क)

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक २९वें अध्ययन के विषय मे यहाँ कहना है। इस अध्ययन का अर्थ बहुत विस्तृत और विशाल है। मगर पहले यह देख लेना चाहिए कि श्री उत्तराध्ययनसूत्र किस प्रकार बना है ? यह बात जानने से इस पर प्रीति और रुचि उत्पन्न होगी।

परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उत्तराध्ययन-सूत्र भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है। विचार करने पर यह कथन सत्य प्रतीत होता है, क्योकि समग्र सूत्र के अर्थ के कर्त्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान् ही माने जाते हैं। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख पाया जाता है कि—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्त गुत्थइ गणहरा।

अर्थात्—अर्हन्तो की अर्थ रूप प्ररूपणा को ही गणधर सूत्र के रूप मे गूथते हैं।

अतएव यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययनसूत्र के अर्थकर्त्ता भगवान् महावीर ही हैं। उसके पाठ के कर्त्ता कोई महा-स्थविर और सूत्र के पारगामी महानुभाव है। भद्रबाहु स्वामी ने इस सूत्र पर निर्युक्ति रची है। अत. यह सब कथन युक्तिसगत ही प्रतीत होता है।

भद्रबाहु स्वामी द्वारा नियुक्ति की रचना होने से यह

भी प्रकट है कि प्रस्तुत सूत्र भद्रबाहु स्वामी से पहले की रचना है और वह इसे प्रमाणभूत मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हे इस सूत्र के प्रति प्रेमभाव भी था, इसी कारण उन्होने इस पर निर्युक्ति की रचना की और अपना सूत्रप्रेम प्रकट किया है। अलबत्ता भद्रबाहु स्वामी के विषय मे मतभेद है कि किन भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति की रचना की है ? लेकिन अगर इस सूत्र के निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के धारक हो और उपलब्ध निर्युक्ति उनकी ही रचना हो तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होने भी यह सूत्र प्रमाणभूत माना है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रो मे से उद्धृत और महापुरुषो की वाणी का सकलन है।

निर्युक्ति के पश्चात् इस सूत्र पर चूर्णि और अनेक सस्कृत टीकाएँ भी रची गई है। सुना जाता है कि इस सूत्र की ५६ टीकाएँ लिखी गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि भद्रबाहु के परवर्त्ती आचार्यों ने भी इसे प्रमाणभूत माना है और इसे जनता के लिए विशेष उपयोगी तथा उपकारक समझ कर ही इस पर इतनी टीकाएँ लिखी हैं। इन सब बातो पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र प्रमाणभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत सूत्र का नाम 'उत्तराध्ययन' क्यो पडा ? यह भी विचारणीय है। 'उत्तर' शब्द अनेकार्थवाचक है, परन्तु यहाँ 'क्रम' अर्थ मे विवक्षित है। एक कार्य के बाद जो दूसरा कार्य किया जाता है वह उत्तर कार्य कहलाता है अर्थात् पिछले कार्य को 'उत्तर' कार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र आचा-

रांगसूत्र के बाद पढाया जाता है, अत. इसे उत्तराध्ययनसूत्र कहते हैं। इस प्रकार मूल आचाराग रहा और उत्तर—तदनन्तर का उत्तराध्ययन ठहरा। इस प्रकार आचाराग-सूत्र के बाद पढाया जाने के कारण इस सूत्र का नाम उत्तराध्ययन पड़ा है, ऐसा प्रतीत है। परन्तु उत्तराध्ययनसूत्र से पहले श्री आचारागसूत्र पढाने का क्रम शय्यभव आचार्य से पहले का है।

जब शय्यभव आचार्य ने दशवैकालिकसूत्र ग्रथित किया और वह थोडे मे ही विशेष ज्ञान कराने वाला सूत्र मान लिया गया, तब उत्तराध्ययनसूत्र से पहले आचारागसूत्र के पठन-पाठन के बदले दशवैकालिकसूत्र के पठन-पाठन का क्रम चालू हो गया। चार मूल सूत्रो मे दशवैकालिक भी एक मूल सूत्र गिना गया है और उसके पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन-अध्यापन होता है, इस कारण भी इसे उत्तराध्ययन कहते हैं। मतलब यह है कि दशवैकालिकसूत्र मूल है और वह पहले पढा-पढाया जाता है और उसके उत्तर—अनन्तर इस सूत्र का अध्ययन किया जाता है, अतएव इसे 'उत्तराध्ययन' कहते हैं।

'उत्तराध्ययन' शब्द पर थोडा विचार और करे। 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'प्रधान' भी होता है। मगर यहाँ 'प्रधान' अर्थ की अपेक्षा 'क्रमप्रधान' अर्थ करना अधिक सगत प्रतीत होता है। अगर 'उत्तर' शब्द का 'प्रधान' अर्थ ही किया जाये तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सूत्र किस प्रकार प्रधान है और किससे प्रधान है ? अगर यह सूत्र किसी अन्य सूत्र की अपेक्षा प्रधान है तो क्या कोई सूत्र

अप्रधान भी है ? ऐसा मानना सदोष है। अतएव यही कहना उचित है कि यह सूत्र क्रम से अन्य सूत्र से प्रधान है अर्थात क्रमप्रधान है।

प्रस्तुत सूत्र के 'उत्तराध्ययन' नाम का रहस्य समझाने के लिए टीकाकार कहते है 'उत्तर' शब्द के अनेक निक्षेप होते हैं, परन्तु मूल निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—यह चार ही है। अतएव यहाँ उन्ही के आधार पर विचार किया जाता है। इन चार निक्षेपो में से भी नाम-निक्षेप और स्थापनानिक्षेप सुगम और थोडे अर्थ वाले होने से छोड देते हैं। शेष दो—द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप के आधार पर ही विचार किया जाता है।

'उत्तर' शब्द के द्रव्य अर्थ मे जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम भेद होते है। जघन्य का अर्थ 'छोटा' होता है। छोटा कहने मे यह भी मानना पडता है कि कोई उससे वडा भी है, क्योकि वडे की अपेक्षा ही छोटा हो सकता है। वडा न हो तो छोटा नही हो सकता। अर्थात् छोटे से कोई उत्तर—वडा होना ही चाहिये। किसी चीज को उत्कृष्ट कहने का अभिप्राय यह कि दूसरी चीज उससे वड़ी नही है। इस प्रकार जघन्य स-उत्तर है और उत्कृष्ट अनुत्तर है। तीसरा भेद मध्यम है, जो स-उत्तर भी है और निरुत्तर भी है। उदाहरणार्थ- एक, दो और तीन के अको में दो का अक मध्यम है। दो का यह अक एक की अपेक्षा उत्तर है और तीन के अक की अपेक्षा अनुत्तर है। एक का अक स-उत्तर ही है। जघन्य अर्थात् छोटे से छोटा वडे की अपेक्षा रखता है और किसी के वडा होने से ही कोई छोटा होता है, इसीलिए वह स-उत्तर है। परन्तु जो उत्कृष्ट होता है, वह जघन्य

की अपेक्षा तो रखता है पर उत्कृष्ट की अपेक्षा नही रखता। इस प्रकार जघन्य मे स-उत्तर गुण रहता है और उत्कृष्ट मे स-उत्तर गुण नही वरन् अनुत्तर गुण रहता है। मध्यम मे दो के अक की तरह स-उत्तर और अनुत्तर—दोनो गुण पाये जाते है।

यह हुई द्रव्य-उत्तर की बात। द्र‍य-उत्तर की अपेक्षा इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम ठीक ही है, क्योकि 'उत्तराध्ययन' नाम अनुत्तर की अपेक्षा रखता है और इसका अनुत्तर सूत्र आचाराग है। इस सूत्र से पहले आचारागसूत्र पढ़ाया जाता है, अतएव यह उत्तराध्ययनसूत्र स-उत्तर है।

भाव-उत्तर की अपेक्षा उत्तराध्ययनसूत्र, पाँच भावों में से क्षायोपशमिक भाव मे है। क्षायोपशमिक भाव में जो सूत्र हैं, उनमे भी क्रम है। जैसे—आचारागसूत्र भी क्षायोपशमिक भाव मे हैं और उत्तराध्ययन भी क्षायोपशमिक भाव मे है। किन्तु आचारागसूत्र पूर्ववर्त्ती है और उत्तराध्ययन उसका उत्तरवर्त्ती है। इसी कारण उसे उत्तराध्ययन कहते हैं। आचारागसूत्र को अगर क्षायोपशमिक भाव मे न गिना जाये तो दोष आएगा। अतएव यह तो मानना ही चाहिये कि दोनो सूत्र क्षायोपशमिक भाव मे हैं, तथापि आचारागसूत्र अनुत्तर है और उत्तराध्ययन स उत्तर है, क्योकि आचाराग सूत्र को पढने के पश्चात् ही उत्तराध्ययनसूत्र पढाया जाता। इस कथन की साक्षो में निर्युक्तिकार की निम्नलिखित गाथा उपस्थित की जाती है—

कम उत्तरेण पगय आयारस्सेव उवरियाण तु।
तम्हाउ उत्तरा खलु अज्झयणा होंति णायव्वा॥

सारांश यह है कि इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम पडने का कारण यह है कि यह सूत्र क्रमप्रधान है। क्रम का तात्पर्य यहाँ भावक्रम है और भाव मे भी क्षायोपशमिक भाव से अभिप्राय है।

कहा जा सकता है कि यह सूत्र क्षायोपशमिक भाव मे ही क्यो है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—अनुयोगद्वारसूत्र मे बतलाया गया है कि चार ज्ञान स्थापना रूप है। लेना, देना, समझना–समझाना वगेरह कार्य श्रुतज्ञान से ही होते हैं और श्रुतज्ञान का समावेश क्षायोपशमिक भाव मे है। इसीलिए यह सूत्र भी क्षायोपशमिक भाव मे है। क्षायोपशमिक भाव मे भी क्रम है। इस क्रम मे आचारागसूत्र प्रथम है और यह उत्तराध्ययनसूत्र उससे पीछे है और इसी कारण आचारागसूत्र के पश्चात् ही यह सूत्र पढाया जाता है। इस कारण इसे 'उत्तराध्ययन' सूत्र कहते है।

यद्यपि क्रम यही है, किन्तु ऊपर उद्धृत की हुई गाथा मे निर्युक्तिकार ने 'तु' पद का जो प्रयोग किया है, उससे पूर्वोक्त क्रम से भिन्न क्रम का भी बोध होता है। आचाराग को पढाने के पश्चात् ही उत्तराध्ययन को पढाने का क्रम शय्यभव आचार्य तक ही चला। जब शय्यभव आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की तब दशवैकालिकसूत्र पहले और उत्तराध्ययनसूत्र उसके बाद पढाया जाना आरम्भ हो गया। इस प्रकार आचाराग का स्थान दशवैकालिक ने ले लिया। फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र अपने स्थान पर ही रहा। इस क्रम-परिवर्त्तन से ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिक से पहले की रचना है।

दशवैकालिकसूत्र की रचना के विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है कि शय्यभव आचार्य के निकट उनका पुत्र भी सयम का पालन करता था अर्थात् मुनि था। उन्होने किसी साधु को नही बतलाया था कि यह साधु ससार-पक्ष का मेरा पुत्र है। शय्यभव आचार्य को यह मालूम हो गया कि इस साधु की उम्र सिर्फ छह महीना शेष है। उन छह महीनो मे ही वह मुनि अपनी आत्मा का कल्याण कर सके, इस उद्देश्य से शय्यभव आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की थी।

शय्यभव आचार्य के ससार-पक्ष के पुत्र का नाम मणिकपुत्र था। मणिकपुत्र के कालधर्म पाने पर शय्यभव आचार्य को कुछ खेद हुआ। यह देखकर साधुओ ने उनसे पूछा—'महाराज! जब अन्य मुनि कालधर्म पाते है तब आपको इतना खेद नही होता, फिर इस शिष्य के वियोग से इतना खेद क्यो हो रहा है?' आचार्य ने साधुओ से कहा—'यह शिष्य मेरा अगजात ही था' यह सुनकर साधुओं ने कहा—'आपने हम लोगो को पहले यह बात क्यो नही बतलाई?' आचार्य बोले—'अगर यह बात तुम्हे पहले बता दी होती तो तुम उसे लाड लडाते और उसको आत्म-कल्याण में बाधा उपस्थित होती। उसकी आयु छह महीना शेष है, यह बात मुझे मालूम हो गई थी। इस अल्पकाल में ही वह आत्मकल्याण कर सके, इस उद्देश्य से मैंने पूर्व अगो मे से उद्धृत करके दशवैकालिकसूत्र की रचना की थी। अब वह कालधर्म पा चुका है, अतः इस सूत्र को जिस शास्त्र-सागर से सकलित किया गया है, उसी मे फिर मिलाये

देता हूं।

इस कथानक से विदित होता है कि शय्यंभव आचार्य की इच्छा दशवैकालिक सूत्र को सूत्रो मे ही मिला देने की थी; मगर उस समय का सघ सगठित था। सघ ने आचार्य से प्रार्थना की – 'भगवन्! वह शिष्य आपका पुत्र था तो क्या यह सघ आपका पुत्ररूप नही है? काल धीरे-धीरे विषम होता जा रहा है और विषमकाल मे विशाल और गम्भीर सूत्रो का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतएव आत्मार्थी भद्रपुरुषो के लिए यह सूत्र अतीव उपकारक होगा। अनुग्रह कर इसे इसी रूप मे रहने दीजिए।'

शय्यभव आचार्य ने कहा– 'इस सूत्र में जो भी कुछ है, भगवान् की ही वाणी है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नही है।' इस प्रकार कहकर उन्होंने दशवैकालिकसूत्र स्थविरो के समक्ष रख दिया। सूत्र देखकर स्थविरो ने उसे बहुत पसन्द किया और फिर तो उसने आचाराग का स्थान ग्रहण कर लिया। पहले पहल यही सूत्र पढाया जाने लगा।

पानी मे किसी प्रकार का भेद नही होता। जिनवाणी के विषय में भी यही बात है। जिनवाणी भी सब के लिए समान है। पानी चाहे तालाब मे हो चाहे कूप मे हो, आता सब एक ही जगह से है। अर्थात् वर्षा होने पर ही सब जगह पहुचता है। इसलिए पानी मे किसी प्रकार का भेद नही होता। परन्तु जब लोग तालाब या कुएँ से पानी का घडा भर लाते हैं तो उसमें अहकार का मिश्रण हो जाता है यह पानी मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार का भेदभाव उत्पन्न हो जाता है। परन्तु वास्तव मे पानी मे कुछ भी

भेद नही होता । प्रकृति सब के लिए पानी बरसाती है । प्रकृति समान रूप से सबका जैसा पोषण करती है, वैसा पोषण दूसरा कोई नही कर सकता ।

जिस प्रकार सरोवर या कूप मे से घडा भर लेने से जल अपना माना जाता है, तथापि जहाँ से पानी लाया गया है, वह जलाशय सबको पानी देता है। इसी प्रकार जिन-वाणी सरोवर के समान है। जिनवाणी के इस शीतल सुधा-मय सरोवर मे से अपनी बुद्धि द्वारा सूत्ररूपी घट भर लिया जाये तो कोई हानि नही, परन्तु यह वाणी तो भगवान् की ही है ।

कहने का आशय यह है कि निर्युक्तिकार ने जो 'तु' शब्द का प्रयोग किया है, वह इस बात को स्पष्ट करता है कि आचारागसूत्र पढाने के पश्चात् उत्तराध्ययन पढाने का क्रम पहले से चला आता था, परन्तु जब दशवैकालिकसूत्र की रचना हुई और उसने आचाराग का स्थान ग्रहण कर लिया, तब भी उत्तराध्ययनसूत्र तो दशवैकालिक के बाद ही पढाया जाता रहा । इस प्रकार क्रम मे किंचित् परि-वर्त्तन होने पर भी प्रस्तुत सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नामक सार्थक ही बना रहा । पहले दशवैकालिक और पीछे इस सूत्र का पठन-पाठन होने के कारण यह उत्तर ही रहा ।

दशवैकालिकसूत्र के पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन-अध्यापन होने की दृष्टि से भी 'उत्तराध्ययन' नामक सार्थक ही है और सूत्र प्रधान नही किन्तु क्रमप्रधान होने के कारण भी 'उत्तराध्ययन' नाम उचित है । जिनवाणी मे सभी सूत्र प्रधान हैं, अत. उत्तर शब्द का अर्थ क्रमप्रधान मानना ही सगत प्रतीत होता है ।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र, आचाराग का अनन्तरवर्त्ती क्यो कहा गया है ? क्या आचारागसूत्र के कर्त्ता ही उत्तराध्ययनसूत्र के भी कर्त्ता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि ऐसा नही है। आचारागसूत्र सुधर्मास्वामी का अत्तागम—आत्मागम—कहलाता है और यह उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरो का अत्तागम—आत्मागम कहा गया है।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस सूत्र के कुछ अध्ययन सम्वादात्मक है, कुछ अध्ययन प्रत्येकबुद्ध द्वारा कथित हैं और कुछ अध्ययन जिनवाणी मे से सकलित है। ऐसी दशा मे उत्तराध्ययनसूत्र को स्थविरो का आत्मागम कहना कहाँ तक सगत हो सकता है ? इस कथन के अनुसार इस सूत्र के अनेक कर्त्ता सिद्ध होते है। इसका समाधान यह है कि इस सूत्र के विषय मे यही प्रसिद्ध है कि यह स्थविरो का बनाया हुआ है और नदीसूत्र में इस कथन का समर्थन किया गया है।

फिर प्रश्न खडा होता है कि नन्दीसूत्र के कथनानुसार भगवान् के जितने शिष्य होते हैं, उतने ही उनके पइन्ना (प्रकीर्णक) बनते हैं, और उत्तराध्ययनसूत्र की गणना प्रकीर्णक मे होती है। ऐसी स्थिति मे कौन-सी बात ठीक समझी जाये ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह सभी बाते ठीक हैं। यद्यपि यह सूत्र पूर्व–अग मे से उद्धृत तथा अग के उपदेश मे से सग्रह करके बनाया गया है फिर भी इसे स्थविरो की रचना कहना गलत नही है। उदाहरणार्थ—एक महिमा रोटी बनाती है मगर उसने रोटी बनाने का सामान नही बनाया है। अगर उस महिला से पूछा जाये तो वह यही

कहेगी कि मैने रोटी का सामान तो नही बनाया है, सिर्फ सामान का उपयोग करके रोटी तैयार करदी है। इस प्रकार उस महिला ने रोटी के सामान से रोटी बनाई है, फिर भी कोई यह कहता है–'यह रोटी उस महिला की है' तो कोई कहता है–'यह रोटी आटे की है।' इन दोनो बातो मे से कौन-सी बात सही मानी जाये ? दोनो बाते ठीक माननी होगी।

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरो ने रचा है या जिनवाणी मे से सगृहीत और अगो मे से उद्धृत है, यह दोनो ही कथन सही है। वस्त्रो और बटनो को आप अपना बतलाते हैं, परन्तु उनमे आपका क्या है ? फिर भी आप अपना तो कहते ही है। इसी प्रकार इस उत्तराध्ययनसूत्र के कर्त्ता के विषय मे भी अनेक दृष्टियो से विचार करने पर उक्त दोनो ही कथन सत्य प्रतीत होंगे।

यह उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरों ने पूर्व अग मे से उद्धृत करके और जिनवाणी के उपदेश का तथा सम्वाद आदि का सग्रह करके बनाया है। अब यह देखना चाहिये कि इस सूत्र का सार क्या है ? इस सूत्र का सार है–बध और मोक्ष का स्वरूप बतलाना। कल्पना कीजिये, एक मनुष्य भयानक जगल में फँस गया है। जगल मे पद-पद पर सापो और सिहो का भय है। ऐसे विकट समय मे दूसरा मनुष्य आकर उससे कहता है–तुम मेरे साथ चलो। मैं तुम्हे इस भयकर जगल से बाहर निकाल कर सुरक्षित नगर मे पहुँचा दूगा। ऐसे प्रसग पर जगल मे फसा हुआ मनुष्य आगन्तुक मनुष्य का रूप देखेगा या उसके भाव पर विचार करेगा ? वह रूप न देखकर उसके कहने के भाव पर ही विचार करेगा ? वह

यही सोचेगा कि जब यह मनुष्य मुझे जंगल में से बाहर निकाल कर सुखपूर्वक नगर मे पहुँचाए देता है तो मुझे इस विषय मे तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता ही क्या है ?

इस उदाहरण को ध्यान मे लेकर इस सूत्र के सार पर विचार कीजिये कि इस सूत्र का सार क्या है ? यह सूत्र जब ससार रूपी जगल से बाहर निकल कर मोक्ष-नगर मे सुखपूर्वक पहुँचा देता है तो फिर इसके विषय मे व्यर्थ तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ है ? इस सूत्र मे आजकल की अनेक पु तकों के समान भाषा का आडम्बर नही है और जो सूत्र इतना प्राचीन है, उसमे भाषा का आडम्बर हो भी कहाँ से ? भाषा का आडम्बर न होते हुए भी यह सूत्र कैसा है ? और जिन पुस्तको मे भाषा का आडम्बर है, वह कैसी है ? उसमे कितना विकार भरा हुआ है ? इस बात पर विचार करना चाहिए। अतएव इस सूत्र से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य बातो मे न उलझे रहकर यही देखो कि यह सूत्र परमात्मा की शरण मे ले जाने वाला है या नही ?

अमुक वाणी, सूत्र या ग्रन्थ भगवान् की शरण मे ले जाने वाले है या नही, इस बात की परीक्षा करना आप सीख लेगे तो फिर कभी किसी के धोखे मे न आएँगे। हृदय मे अशुभ भावना तो जागृत ही रहती है। उसे जागृत करने की आवश्यकता नही होती। कहावत है—'सन्त जागे धर्म-ध्यान के लिए, चोर जागे चोरी के लिए।' इस प्रकार अशुभ भावना तो जागृत ही रहती है, मगर मुख्य काम तो शुभ भावना का जागृत करना है और वह काम भगवान् की वाणी और महात्माओ की शरण गहने से ही हो सकता है। भगवान् की वाणी जागृत और बलवान् बनाती है। भगवान्

की वाणी जागृत, प्रेरित करने वाली और बल देने वाली है, इस बात की परीक्षा करने के लिए कहा गया है :—

जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं ।

—उत्तराध्ययन, ३, ८

अर्थात्–जिस वाणी को सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा की इच्छा जागृत हो, वही वास्तव में भगवद्वाणी (सूत्र) है और जिसके श्रवण से भोग, क्रोध तथा हिंसा की इच्छा जागृत हो वह शास्त्र नही, शस्त्र है । शास्त्र के विषय में इस बात का ध्यान रक्खोगे तो कभी और कही भी ठगे नही जा सकोगे । जिसके द्वारा अहिंसा, तप तथा क्षमा की जागृति होती हो, ऐसी वस्तु कही से भी लेने मे हानि नही है; परन्तु जिसके द्वारा हिंसा, भोग तथा क्रोध की इच्छा जागृत हो, ऐसी वस्तु कही से भी मत लो । फिर वह चाहे किसी के नाम पर ही क्यो न मिलती हो ।

अब देखना चाहिए कि तप, क्षमा और अहिंसा का अर्थ क्या है ? कुछ लोग उपवास को ही तप कहते है, परन्तु उपवास तो तप का एक अग मात्र है । बारह प्रकार के तपो मे उपवास भी एक तप है । परन्तु उपवास मे ही तप की समाप्ति नही हो जाती । अगर किसी मे उपवास करने का सामर्थ्य नही है तो वह तप के दूसरे अग द्वारा भी तप कर सकता है । तप से आत्मा को शान्तिलाभ होता है । जब आत्मा को शान्ति मिले तो समझना चाहिए कि यह तप का ही प्रभाव है । इसी प्रकार क्षमा और अहिंसा के विषय मे भी समझ लेना चाहिए ।



सूत्रपरिचय (ख)

उत्तराध्ययनसूत्र के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने पर विदित होता है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रो मे से उद्-घृत किया गया है और इसमे अनेक महापुरुषो की वाणी का सग्रह किया गया है। इस कथन के लिए प्रमाण क्या है? निर्युक्तिकार कहते है -

अगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥

अर्थात्—इस उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो मे से कुछ अध्ययन अगो मे के है अर्थात् पूर्व अग में से उद्धृत हैं। अग का अर्थ यहाँ दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद में भी पूर्व के भाग मे से उद्धृत किये गये हैं। जैसे—परिषह नामक दूसरे अध्ययन के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह अध्ययन 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व के सत्रहवे अध्ययन मे से उद्धृत किया गया है। कुछ अध्ययन जिनभाषित है, जैसे—गौतम स्वामी को सम्बो-धन करके भगवान् ने उपदेश दिया है। यद्यपि भगवान् ने गौतम स्वामी को सम्बोधन करके उपदेश दिया है तथापि वास्तव मे वह उनके सभी शिष्यो के लिए है। कुछ अध्य-यन प्रत्येकवुद्ध द्वारा कहे गये हैं, जैसे कपिल मुनि द्वारा कहा हुआ अध्ययन। कपिल मुनि प्रत्येकवुद्ध थे। उन्होने जो अध्ययन कहा वह प्रत्येकवुद्ध द्वारा कथित अध्ययन है। कुछ अध्ययन सम्वाद रूप मे कहे गये हैं, जैसे नमिराज-इन्द्र

तथा केशी-गौतम के बीच हुए सम्वादों का कथन करने वाले अध्ययन ।

इन सब अध्ययनो का कथन इस प्रकार करना चाहिए, जिससे बध और मोक्ष का सम्बन्ध प्रकट हो । क्योकि इनमे यही बतलाया गया है कि कर्म किस प्रकार बधते हैं और कर्मबन्धन से मोक्ष किस प्रकार होता है ? पहले बध का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझा जा सकता है, क्योकि जिसका बध है, उसी को मोक्ष मिलता है । जब तक बध का स्वरूप न समझ लिया जाय तब तक मोक्ष का स्वरूप भी नही समझा जा सकता । कुछ लोगो का कहना है कि मोक्ष स्वयसिद्ध वस्तु है, परन्तु जैन-शास्त्र ऐसा नही मानते । मोक्ष को सिद्ध करने वाला बध ही है और कर्मबध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है । इस प्रकार बध होने से ही मोक्ष है । यह बात सिद्ध करने के लिए विनीतता और अविनीतता का कारण बतलाया जाता है । विनीतता मोक्ष का कारण है और अविनीतता बध का कारण है । मोक्ष का सामान्य अर्थ है––छूटना । बधनो से छूटना–मुक्त होना ही मोक्ष है । अतएव मोक्ष का स्वरूप समझने के लिए सर्वप्रथम बध का स्वरूप समझने की आवश्यकता ह ।

आजकल लोगो में विनय बहुत कम देखा जाता है । आस्तिकता, नम्रता और विनयशीलता की न्यूनता होने से ही कर्मबध होता है, ऐसा शास्त्रकारो का कथन है ।

यहाँ तो केवल यही बतलाना है कि उत्तराध्ययनसूत्र बध और मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करता है । इस सूत्र के प्रथम अध्ययन मे विनय का स्वरूप बतलाया गया है और अट्ठाईसवे अध्ययन मे मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है ।

मोक्ष के मार्ग में प्रयाण करने के लिए पराक्रम की आवश्यकता होती है और इसीलिए २९वे अध्ययन मे 'सम्यक्त्व पराक्रम' का प्रतिपादन किया गया है। इस 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक अध्ययन मे क्या बतलाया गया है, इसी बात का यहाँ वर्णन किया जायगा।

'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक २९वें अध्ययन का वर्णन करने से पहले यह देखना है कि इस अध्ययन का 'मोक्ष-मार्ग' नामक अट्ठाईसवें अध्ययन के साथ क्या सम्बन्ध है? पूर्वापर सम्बन्ध समझे विना कही जाने वाली वात ठीक नहीं होती। नीति मे भी कहा है—'सहति श्रेयसी' अर्थात् एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध जोडने मे कल्याण है और पारस्परिक सम्बन्ध न जोडने मे कल्याण नही है। शरीर के अगोपाँग यो भले ही अलग-अलग दिखाई देते हैं, मगर वास्तव मे वह सब परस्पर सम्बद्ध है। अगोपागो के पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में काम नही चल सकता। दाहिना और बाया हाथ जुदा-जुदा है, मगर दोनो के सहकार के विना काम चल नही सकता। एक हाथ मे अगूठी पहनने के लिए दूसरे हाथ की सहायता चाहिए ही। यह वात जुदी है कि खुद का दूसरा हाथ वेकाम हो और कोई दूसरा मनुष्य अगूठी पहना दे, फिर भी दूसरे हाथ की आवश्यकता तो रहती ही है। इस तरह जैसे शरीर के विभिन्न अगो मे सगति की आवश्यकता है उसी प्रकार सूत्र मे भी सगति की आवश्यकता है। इसी कारण यह देखना आवश्यक है कि अट्ठाईसवें और उनतीसवें अध्ययनो मे सगति है या नही? अगर संगति है तो किस प्रकार की?

अट्ठाइसवें अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उन-

तीसवें का नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' है । इस तरह दोनो में नाम का अन्तर होने पर भी भाव की दृष्टि से दोनो के बीच सगति है । दोनो अध्ययनो का आशय एक ही है । अट्ठाईसवे अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उसमें मोक्ष के मार्ग का निरूपण किया गया है । उनतीसवे अध्ययन में जिन ७३ बोलो की चर्चा की गई है, उनमे पहले-पहल 'सवेग' है और अतिम बोल 'अकर्म' है । सवेग और अकर्म–दोनों मोक्ष के ही साधन है, इस प्रकार इन दोनो अध्ययनो का आपस मे सम्बन्ध है और इस प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण ही नियुक्तिकार ने इस अध्ययन का 'अप्रमत्त अध्ययन' नाम प्रकट किया है । नियुक्तिकार ने यह मध्यवर्ती नाम अपनाया है । इस अध्ययन का आदि नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' है, मध्यनाम 'अप्रमत्तअध्ययन' है और अन्त का नाम 'वीतरागसूत्र अध्ययन' है । नियुक्तिकार आचार्य ने इन तीन नामो मे से मध्य का नाम ग्रहण कर लिया है, जिससे कि आदि और अन्त के नामो का भी ग्रहण हो जाये । सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम अप्रमाद से ही होता है और वीतरागता की प्राप्ति भी अप्रमाद से ही होती है । इसी कारण आचार्य ने इस अध्ययन का नाम 'अप्रमाद-अप्रमत्त अध्ययन' रक्खा है ।

समकित-पराक्रम और वीतरागता की प्राप्ति अप्रमाद से ही होती है, इसलिए आचार्य ने मध्य द्वार मे रखे हुए दीपक की भाति इस मध्य-नाम को ग्रहण किया है । मध्य द्वार में रखे दीपक का प्रकाश भीतर भी होता है और बाहर भी, इसी प्रकार 'सम्यक्त्वपराक्रम' और 'वीतरागता' के ऊपर प्रकाश डालने वाला होने के कारण आचार्यश्री ने यह

मध्य नाम 'अप्रमाद' स्वीकार किया है। अप्रमाद पर प्रकाश डालने से सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागता पर किस प्रकार प्रकाश पडता है, यह बात यथासमय आगे बतलाई जायगी।

अप्रमाद की व्याख्या चार अनुयोगद्वारो से की जाये तो यह बात स्पष्ट रूप से समझी जा सकेगी कि प्रमाद किसे कहना चाहिए ? चार अनुयोगद्वारो द्वारा व्याख्या करने का अभिप्राय क्या है ? इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है—जैसे किसी नगर में द्वार की मार्फत ही प्रवेश किया जा सकता है। द्वार ही न हो तो नगर में प्रवेश नही हो सकता और यदि किसी महानगर में एक-दो ही द्वार हो तो प्रवेश करने वालो को कठिनाई उठानी पडती है। इसीलिए नगर के चारो ओर चार द्वार बनाये जाते हैं। इससे प्रवेश करने में सरलता होती है। इसी प्रकार शास्त्र की व्याख्या करने मे तथा समझने मे चार द्वारो की व्यवस्था की गई है जिन्हे अनुयोगद्वार कहते हैं।

उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, यह चार अनुयोग-द्वार है। उपक्रम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'उप-क्रम्यतेऽनेन इति उपक्रमः।' अर्थात् दूर की वस्तु को जो समीप लावे वह उपक्रम कहलाता है। वस्तु को यथास्थान स्थापित करने वाला निक्षेप कहलाता है। कल्पना कीजिए, किसी को घर बनाना है। घर बनाने के लिए दूर-दूर का लकडी-पत्थर आदि सामान नजदीक लाया जाता है। इसे उपक्रम समझना चाहिए। पश्चात् यह सामान यथास्थान रखा जाता है, यह निक्षेप समझिए। अगर सामान नजदीक न लाया जाये अर्थात् उपक्रम न किया जाये और उपक्रम करके भी अगर निक्षेप न किया जाये अर्थात् वस्तुओ को

यथास्थान स्थापित न किया जाये तो मकान कैसे बन सकता है ? इस प्रकार दूर की वस्तु को पास मे लाना उपक्रम है और पास मे लाई वस्तु को यथास्थान रखना निक्षेप है ।

उपक्रम के दो भेद हैं—(१) सचित्त उपक्रम और (२) अचित्त उपक्रम । सचित्त उपक्रम के द्विपद, चतुष्पद और अपद के भेद से तीन प्रकार है अर्थात् द्विपद, चतुष्पद और अपद जीवो का उपक्रम करना सचित्त उपक्रम है । बहुत-से लोग भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, परन्तु शास्त्र तो उपक्रम करने के लिए कहता है । अगर भाग्य-भरोसे बैठे रहना ही ठीक होता तो शास्त्रकार उपक्रम करने के लिए क्यो कहते ? सचित्त के ही समान अचित्त अर्थात् निर्जीव वस्तु का भी उपक्रम होता है ।

सचित्त वस्तु का उपक्रम किस प्रकार होता है, यह समझने के लिए एक द्विपद मनुष्य या बालक का उदाहरण दिया जाता है । अगर किसी बालक का उपक्रम न किया जाये अर्थात् उसे शिक्षा के सस्कार न दिये जाएँ तो वह कैसा बन जायेगा ? यह दूसरी बात है कि आजकल उपक्रम करने मे भी, शिक्षा-सस्कार के नाम पर बहुत कुछ खराबियाँ हो रही है और फिर भी उसे उपक्रम का नाम दिया जाता है । इस बात को ध्यान मे रखकर उपक्रम के दो भेद किये गये हैं—(१) परिक्रम और (२) वस्तुविनाश । किसी वस्तु के गुणो की वृद्धि करना अथवा उसका विकास करना परिक्रम है और वस्तु के गुणो का नाश करना या उसके गुणो का ह्रास करना वस्तुविनाश है । किसी वस्तु के गुणो का विकास करना या ह्रास करना, दोनो ही उपक्रम है । पर विकास करना परिक्रम और ह्रास करना वस्तु-

विनाश है। अतएव बालक के गुणों का विकास किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय मे खूब विवेक रखना आवश्यक है।

शास्त्र को समझने के लिए पहले उपक्रम करने की आवश्यकता होती है। जो वस्तु दूर हो उसे उपक्रम करके समीप लाओ और फिर उसे यथास्थान रखकर उसका निक्षेप करो। वस्तु को यथास्थान स्थापित करना ही निक्षेप कहलाता है। निक्षेप चार प्रकार का है-(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव।

वस्तु का निक्षेप करने के पश्चात् उसका अनुगम करो अर्थात् रचना करो। ह्रस्व-दीर्घ, उच्चारण-घोष तथा सूत्र के अन्यान्य अतिचारो को दूर करके सूत्र की जैसी रचना करनी चाहिए वैसी ही रचना करना अनुगम कहलाता है। अनुगम करने के अनन्तर नय की सहायता से सूत्र को समझना चाहिए। नय की सहायता के विना सूत्र समझ में नही आ सकते।

शास्त्र-नगर में प्रवेश करने के लिए सिद्धान्त में चार अनुयोगद्वार बतलाये गये है। जहाँ इन चार अनुयोगद्वारो मे अपूर्णता होती है वहाँ शास्त्रनगर मे प्रवेश करने मे कठिनाई उपस्थित होती है अर्थात् जहाँ यह चार अनुयोगद्वार नही हैं वहाँ प्रथम तो शास्त्रनगर मे प्रवेश ही नही हो सकता; कदाचित् होता भी है तो उन्मार्ग से होता है। कई लोग कहते हैं कि शास्त्र हमारी समझ मे नही आते। मगर चार अनुयोगद्वारो के अभाव मे शास्त्रनगर मे किस प्रकार प्रवेश हो सकता है ? कोई मनुष्य नगर के द्वार मे प्रवेश न करे किन्तु नगर मे प्रवेश करना चाहे तो वह कैसे प्रवेश कर सकता है ? और वह कैसे जान सकता है कि अमुक नगर

मे क्या है ? इसो प्रकार शास्त्ररूपी नगर मे प्रवेश करने के लिए चार अनुयोगद्वार, चार द्वारो के समान हैं। इन्ही के द्वारा शास्त्रनगर मे प्रवेश हो सकता है और शास्त्र मे क्या है, यह बात जानी जा सकती है।

प्राचीनकाल के लोग महात्माओ के पास से शास्त्र वाचते थे और उनका रहस्य समझते थे। परन्तु आजकल यन्त्रो द्वारा शास्त्र छपाये जाते हैं और कुछ लोग शास्त्रो का ऊपरी वाचन करके समझने लगते है कि हम भी शास्त्रों के ज्ञाता है। परन्तु महात्माओ की शरण मे गये बिना न तो शास्त्र ठीक-ठीक समझे जा सकते हैं और न उनके विषय मे सम्यक् विचार ही हो सकता है। अतएव महात्माओ की शरण मे जाकर शास्त्र समझो। ऐसा किये बिना शास्त्र भलीभाँति नही समझे जा सकते।

किसी भी सामग्री के सम्बन्ध में अनुकूल विचार किया जाये तो कार्य भी अनुकूल होता है और विरुद्ध विचार किया जाये तो विरुद्ध कार्य होता है। उदाहरणार्थ विचार कीजिए कि आपका शरीर मूल्यवान् है या यह वस्तुएँ मूल्यवान् हैं ? इस शरीर की चमडी महँगी है या कपडे महँगे हैं ? डाक्टरों के कथनानुसार चमडी में अनेक गुण है। शरीर की चमड़ो मे जो गुण है, उन्ही के कारण हमारा जीवन टिका हुआ है। शरीर की चमडी मे शीत और उष्णता सहन करने की क्षमता है। लोहे का पिड गरम किया जाये तो अग्नि में से निकलने के पश्चात् थोडे समय तक ही वह गरम रह सकता है और फिर ठण्डा पड जाता है। पर यह शरीर ही ऐसा है जो ठण्ड के दिनो मे गरम रहता है और मुँह में भाफ निकलता है, परन्तु गर्मी के दिनो में ठण्डा रहता है। यह

शरीर की त्वचा का ही विशिष्ट गुण है।

ऐसी विशिष्ट गुण वाली चमडी कुदरत की कैसी सेवा करने पर मिली होगी, इस बात पर तुमने किसी दिन विचार किया है ? तुम इस चमडी को वडी वस्तु मानते हो या वस्त्रो को ? इस विशिष्ट गुण वाली चमडी को भूलकर लोग वस्त्रों के प्रलोभन मे पड जाते है। वे इस बात का विचार ही नही करते कि ठूँस-ठूँम कर कपडे पहनने से चमडे को कितनी हानि पहुँचती है ? वस्त्र तो वास्तव मे लज्जानिवारण के लिए ही थे और है, परन्तु लोगो ने इन्हे शृंगार की वस्तु समझ लिया है। इस भूलभरी समझ के कारण सर्दी न होने पर भी लोग इतने अधिक अनावश्यक वस्त्र शरीर पर लाद लेते हैं कि बेचारी चमडी बेहाल हो जाती है। लोग वस्त्रो के द्वारा अपना झूठा बडप्पन दिखलाना चाहते हैं। इस भ्रम के कारण भी इतने अनावश्यक वस्त्र पहनते हैं कि भीतर पसीना पैदा होता और वह शरीर मे ही समा जाता है। अन्त में इसका दुष्परिणाम यह होता है कि चमडी के विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं और इस कारण भावी सतति भी दिन-प्रतिदिन कमजोर होती जाती है।

शहर के लोग जितने कपडे पहनते हैं उतने ग्रामीण या जगल मे रहने वाले नही पहनते। लेकिन अधिक बीमार कौन होता है ? ग्रामीणजन या नागरिक लोग ? लोग इस पर विचार कर अपनी भूल सुधार लें तो अब भी गनीमत है। सामायिक-प्रतिक्रमण करते समय वस्त्र उतार देने की पद्धति मे भी गंभीर रहस्य छिपा हुआ है। हम साधुओ के लिए भगवान् ने लज्जा की रक्षा करने के लिए ही विधान किया है और वस्त्रो के शौकीन वनने का निषेध ही किया

है। इस प्रकार त्वचा का महत्व भूल कर कपडे के ममत्व मे पड जाना और त्वचा को निर्बल बनाना हानिकारक है।'

खाने-पीने मे भी इसी प्रकार की भूल हो रही है। पाचन शक्ति चाहे कितनी ही कम क्यो न हो, तथापि उसकी परवाह न करके मिठाई मिल जाये तो खाने से नही चूकते। गरिष्ठ और मिष्ठ पदार्थ खाने और पचाने के लिए पाचन-शक्ति तैयार है या नही, इस बात का विचार कौन करता है ? जीभ स्वाद बतलाने वाली है, मगर लोगो ने उसे चटोरी बना दिया है। इस प्रकार का चटोरपन अस्वाभाविक और हानिप्रद है। अगर किसी मनुष्य को एक महीने तक मिठाई पर ही रखा जाये, मिठाई के सिवा और कोई चीज खाने को न दी जाये तो क्या वह सिर्फ मिठाई पर ही रह सकेगा ? इसके विरुद्ध किसी को सादी दाल-रोटी पर रखा जाये तो वह सरलतापूर्वक रह सकेगा या नही ? मिठाई पर लबे समय तक नही रहा जा सकता, यही बात सिद्ध करती है कि मिठाई शरीर के लिए अनुकूल नही है। फिर भी लोग रसलोलुपता के वशवर्त्ती होकर मिठाई के दोने चाटा करते है। आप लोग इस भूल को समझ लें और अपनी जिह्वा को रसलोलुप न बनने दे। उसे काबू मे रखे।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय आदि के विषय में भी देखो कि आप इन इन्द्रियो का उपयोग किस ओर कर रहे है ? भोगोपभोग मे इन्द्रियो का उपयोग करना धर्म नहीं है। जो लोग इन्द्रियभोग मे धर्म बतलाते है, वे भूल मे हैं। धर्म तो इन्द्रियो को जीतने मे है। इस २९वे अध्ययन मे भी यही बतलाया गया है कि इन्द्रियो को जीतने मे ही धर्म है। आप लोग इस अध्ययन को समझो और यदि एकदम

अपनी आदत नही वदल सकते तो धीरे-धीरे सुधारने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी आदतो की दिशा वदल लोगे तो माना जायेगा कि तुम सुधर रहे हो।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी शक्ति पर बराबर विचार नही किया जाता तव उसी शक्ति से विपरीत कार्य हो जाता है और जब बराबर विचार किया जाता है तो अनुकूल कार्य होने लगता है। जैसे शरीर का महत्व न समझने के कारण शरीरहित के विरुद्ध कार्य होने लगता है, उसी प्रकार शास्त्र का मर्म न समझने के कारण उसके विरुद्ध कार्य हो जाना स्वाभाविक है। अतएव महात्माओ द्वारा शास्त्र का मर्म समझो तो कल्याण होगा।



सम्यक्त्वपराक्रम

उत्तराध्यन सूत्र के २९वे अध्ययन का पहला नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' अध्ययन, दूसरा नाम 'अप्रमत्त सूत्र' अध्ययन और तीसरा नाम 'वीतरागसूत्र' अध्ययन है।

इन तीन नामो मे से मध्यम नाम की व्याख्या करने से तीनो नामो की व्याख्या हो जाती है। इसी अभिप्राय से नियुक्तिकार ने 'अप्रमत्त अध्ययन' नाम की ही व्याख्या की है। इस नाम की व्याख्या समझ लेने से विदित होगा कि एक नाम की व्याख्या में ही शेष दो नामो की व्याख्या का समावेश किस प्रकार हो जाता है।

अप्रमत्त का अर्थ है—प्रमाद को जीतना। इसके भी चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम और स्थापना निक्षेप सुगम हैं। इनका विवेचन न करते हुए शास्त्रकार द्रव्य और भाव निक्षेपो का विवेचन करते हुए कहते है कि द्रव्य अप्रमत्त का बोध तो सभी को होता है। दुश्मन चढाई कर दे और तुम मजे उडाते रहो तो कैसी दशा होगी? तुम यहाँ बैठे हो। इसी समय कोई 'साँप आया' चिल्लाने लगे तो कितने जहाँ के तहाँ बैठे रहेगे? इस प्रकार द्रव्य-अप्रमाद को तो सभी जानते है। द्रव्य-भय से मुक्त होने के लिए जो उद्योग किया जाता है वह द्रव्य-अप्रमाद कहलाता है।

यह आत्मा द्रव्य-अप्रमत्त अनेको वार हुआ है और होता ही रहता है। दूसरो की बात जाने दीजिये, रेशम

का कीडा भी द्रव्य-अप्रमाद का सेवन करता रहता है। रेशम का कीडा अपने शरीर की रक्षा के लिए अपना घर साथ-साथ ही लिये फिरता है। इस प्रकार वह क्षुद्र कीडा भी अपने शरीर की रक्षा का उद्योग करता है। इसका अर्थ यह नही है कि मैं आपको अपने शरीर की रक्षा न करने का उपदेश दे रहा हू। मेरे कथन का आशय यह है कि द्रव्य-अप्रमाद सर्वानुभव-सिद्ध है और ऐसा अप्रमाद तो मामूली कीडा भी सेवन करता है।

शरीर, कुटुम्ब, घर–द्वार तथा धन–दौलत आदि वस्तुओ मे से कोई भी वस्तु साथ मे परलोक नही जाती। उनसे आत्मा का कल्याण भी नही होता। फिर भी शास्त्रकार उन चीजो के प्रति उपेक्षा करने का उपदेश नही दे रहे हैं। वह सिर्फ यही कहते हैं कि इनकी रक्षा के लिए किये जाने वाले प्रयत्न या उद्योग को द्रव्य-अप्रमाद ही समझो। इसे भाव-अप्रमाद मत मानो। द्रव्य-अप्रमाद अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ है, फिर भी उससे आत्मा का कल्याण नही हुआ। प्रार्थना मे कहा है :—

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण,
ज्यों चौतरफ दियौ घेरो।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी,
अरियन होय प्रकटै चेरो॥

जब दुष्ट लोग तलवार लेकर घेर ले और मस्तक पर प्रहार करना चाहे, तब ऐसे सकट के समय भी–अगर परमात्मा का स्मरण किया जाये तो शत्रु भी नम्र बन जाता है। वे शत्रुता का त्याग कर दास की भाँति आज्ञाकारी हो जाते हैं। दुष्ट का नाश न चाहते हुए दुष्ट की दुष्टता का नाश

करने के उद्देश्य से, सच्चे हृदय से परमात्मा की प्रार्थना करने पर दुष्ट की दुष्टता नष्ट हो जाती है। जैसे द्रव्य-रक्षा के लिए दूसरे की शरण ली जाती है, उसी प्रकार पर-मात्मा या धर्म की शरण लेने से द्रव्यरक्षा के साथ ही साथ भावरक्षा भी हो सकती है। मगर यह भूलना नही चाहिए कि अगर तुम द्रव्य की रक्षा करोगे तो वह द्रव्य के लिए ही होगी और भाव की रक्षा करोगे तो भाव के लिए होगी।

यह हुई द्रव्यनिक्षेप की बात। किन्तु इस अप्रमत्तसूत्र मे भाव-अप्रमाद की चर्चा की जायेगी। जैसे द्रव्य-अप्रमाद मे शरीर, धन आदि के भय को दूर करने की सावधानी की जाती है, वैसे ही भाव-अप्रमाद मे आत्मिक भय को निवा-रण करने के लिए सावधानी रखी जाती है। अज्ञान, कषाय आदि विकारो पर विजय प्राप्त करने के लिए जो उद्योग-प्रयत्न किया जाता है वह भाव-अप्रमाद है।

अज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' यह नञ् समास है। नञ् समास के दो भेद हैं। कहा भी है—

नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ, पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृशग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥

अर्थात्—नञ् समास के दो भेद हैं—एक पर्युदास, दूसरा प्रसज्य। पर्युदास सदृश अर्थ को ग्रहण करता है और प्रसज्य केवल निषेध अर्थ का ग्राहक है।

यहाँ आशय यह है कि ऊपर जो 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' कहा गया है सो उसका अर्थ यह नही है कि न जानना ही अज्ञान है। एकान्त ऐसा अर्थ करने से अनेक अनर्थ हो सकते

हैं। ससार में ऐमे अनेक विद्वान् होते हैं, जिनके एक शब्द से ही ससार मे खलबली मच जाती है। किन्तु शास्त्र के अनुसार जिन्होनें कषाय पर विजय प्राप्त नही किया है और जिनमे सम्यग्ज्ञान नही है, उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल ज्ञान भी विपरीत ज्ञान हो है। वह विपरीत ज्ञान अज्ञान रूप है। ऐसे स्थानो पर 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' जो कहा गया है सो यह नञ् समास पर्युदास रूप है। पर्युदास सदृश अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ पर्युदास नञ्समास न स्वीकार करके प्रसज्य पक्ष स्वीकार करना उचित नही है। प्रसज्य नञ्समास मे 'अज्ञान' शब्द से ज्ञान का सर्वथा निषेध होता है और यहाँ ज्ञान का निषेध करना अभीष्ट नही है। वास्तव मे यहाँ 'अज्ञान' शब्द से 'ज्ञान का अभाव' अर्थ अभीष्ट नही किन्तु ज्ञान के सदृश 'विपरीत ज्ञान' को गणना अज्ञान मे की गई है। अतएव न जानना ही अज्ञान नही किन्तु सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि भी अज्ञान रूप ही है।

इस प्रकार के अज्ञान को हटाने के लिए जो उद्योग किया जाता है, वह भाव अप्रमाद है। ऐसा अज्ञान सम्यग्ज्ञान से ही मिट सकता है। अगर कोई मनुष्य लाठी मार-मार कर अन्धकार को हटाना चाहे तो क्या अन्धकार हट जायेगा ? नही। हाँ यदि प्रकाश किया जाये तो अन्धकार अवश्य मिट जायेगा। इसी प्रकार अज्ञान-अन्धकार भी ज्ञान के प्रकाश से ही दूर हो सकता है। प्रकृत अध्ययन मे ज्ञान के प्रकाश का ही मार्ग बतलाया गया है। अतएव यह अध्ययन भाव-अप्रमाद से ही सम्बन्ध रखता है।

इस अध्ययन में ज्ञान का मार्ग प्रकाशित करने के साथ ही कषाय को जीतने का भी मार्ग बतलाया गया है। आत्मा

के असली स्वरूप को भूलकर पर पदार्थ में आनन्द मानना आस्रव है। इस अध्ययन मे आस्रव को जीतने के लिए अप्रमत्त रहने का मार्ग प्रतिपादन किया गया है। यो तो चौथे गुणस्थान से ही अप्रमाद गुणस्थान आरम्भ हो जाता है परन्तु शास्त्र मे सातवे गुणस्थान से ही अप्रमाद स्वीकार किया गया है; क्योकि चौथे आदि गुणस्थानो मे कषाय की कुछ-कुछ तीव्रता रहती है। यद्यपि सातवे गुणस्थान मे भी थोडा (सज्वलन) कषाय मौजूद रहता है; फिर भी वह इतना हल्का होता है कि उसकी गणना नही की गई। तनिक भी असावधानी न रखते हुये आस्रव को जीतने का प्रयत्न करना अप्रमत्तता है। इस प्रकार की अप्रमत्तता सातवे गुणस्थान पर आरूढ होने से ही प्राप्त होती है।

राग-द्वेष को उत्पन्न करना प्रमाद है और जीतना अप्रमाद है। अगर तुम अप्रमाद प्राप्त करना चाहते हो तो राग-द्वेष को जीतो। पूछा जा सकता है कि राग-द्वेष को किस प्रकार जीतना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि इस अध्ययन मे राग-द्वेप को नही जीत सके हो तो न सही, मगर इतना तो मानो कि राग-द्वेष प्रमाद है और इन्हे जीतना अप्रमाद है। तुम्हे यह स्वीकार करना चाहिए कि राग-द्वेष त्याज्य हैं परन्तु अपनी निर्बलता के कारण मैं अभी तक उन पर विजय प्राप्त नही कर सका हूं। इस प्रकार राग-द्वेष का स्वरूप समझो। राग और द्वेष से आत्मा का पतन होता है। अगर तुम आत्मा का पतन नही चाहते तो राग-द्वेप का स्वरूप समझकर उन्हे त्याज्य समझो।

राग-द्वेष के अनेक रूप हैं। कई बार ऐसा होता है कि बाहर से राग-द्वेष प्रतीत होते हैं किन्तु भीतर और ही कुछ

होता है। इसी प्रकार कभी-कभी बाहर से राग-द्वेष प्रतीत नही होते फिर भी भीतर राग-द्वेष भरे रहते है। ऐसी स्थिति मे राग-द्वेष हैं या नही, इस बात का निश्चय ज्ञानी ही कर सकते हैं। फिर भी व्यवहार द्वारा जिस राग-द्वेष को पहचाना जा सकता है, उन्हे पहचानने का प्रयत्न तुम्हे करना चाहिए और पहचान कर छोडने का उद्योग करना चाहिए।

जो आत्मा को पतित करे और साथ ही जगत् का भी अकल्याण करे वह राग-द्वेष है। इन लक्षणो से राग-द्वेष की पहचान हो जाती है। अतएव जिन कार्यों से जगत् को हानि पहुचे और आत्मा पतित हो, ऐसे कार्य त्याज्य समझने चाहिए। इसी प्रकार वही कार्य राग-द्वेष रहित है जिनसे अपनी आत्मा उन्नत हो और जगत् का भी कल्याण हो।

कदाचित् कोई यह दावा करे कि मुझमे विशेष ज्ञान है और अमुक कार्य या क्रिया किये बिना ही सिर्फ ज्ञान द्वारा ही मैं आत्मा का कल्याण कर लूंगा; तो शास्त्र बतलाता है कि उसका यह दावा सही नही है। मान लिया जाये कि कोई ज्ञान द्वारा अपना कल्याण कर सकता है, यद्यपि अकेले ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नही हो सकती, तो भी लोकहित की दृष्टि से श्रेयस्कर कार्यों का त्याग कर देना ठीक नही। मतलब यह है कि जिससे आत्मा का भी कल्याण हो और जगत् का भी हित हो, वह व्यावहारिक दृष्टि से राग-द्वेष को जीतना कहलाता है। अप्रमत्तता प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष को जीतना ही चाहिए।

अब इस अध्ययन के नाम के सम्बन्ध में विचार करे। कोई-कोई नाम सिर्फ लोकव्यवहार के लिए ही होता है।

उसमे गुण की अपेक्षा नही रहती और कोई नाम गुणनिष्पन्न भी होता है। इस अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुणनिष्पन्न है। पहले के लोग गुणनिष्पन्न नाम रखते थे, आजकल की तरह खोटे नाम नही। कदाचित् तुम खोटा भी नाम रख सकते हो मगर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है? अतएव प्रकृत अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुणनिष्पन्न ही है।

खोटा नाम कैसा होता है और गुणनिष्पन्न नाम में उससे क्या अन्तर होता है, यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीलिए :—

एक सेठ का नाम ठनठनपाल था। नाम ठनठनपाल होने पर भी वह बहुत धनवान था और उसकी बहुत अच्छी प्रतिष्ठा भी थी।

प्राचीनकाल के श्रीमन्त, श्रीमन्त होने पर भी अपना कोई काम छोड़ नही बैठते थे। आज जरा-सी लक्ष्मी प्राप्त होते ही लोग सब काम छोडछाड कर बैठे रहते हैं और ऐसा करने मे ही अपनी श्रीमन्ताई समझते हैं।

ठनठनपाल सेठ की पत्नी सेठानी होने पर भी पानी भरना, आटा पीसना, कूटना आदि सब घरू काम-काज अपने हाथो करती थी। अपने हाथ से किया हुआ काम जितना अच्छा होता है, उतना अच्छा दूसरे के हाथ से करवाया काम नही होता। परन्तु आजकल बहुत-से लोग धर्मध्यान करने के बहाने हाथ से घर का काम करना छोड देते हैं। उन्हे यह विचार नही आता कि धर्मध्यान करने वाला व्यक्ति क्या कभी आलसी बन सकता है? जो कार्य अपने ही हाथ से भलीभाँति हो सकता है, शास्त्रकार उसके त्याग करने का

आदेश नही देते । तुम स्वय जो काम करोगे, विवेकपूर्वक करोगे, दूसरे से ऐसे विवेक की आशा कैसे रखी जा सकती है ? इस प्रकार अपने हाथ से विवेकपूर्वक किये गये काम में एकान्त लाभ ही है । स्वय आलसी बनकर दूसरे से काम कराने में विवेक नही रहता और परिणामस्वरूप हानि होती है ।

आजकल बिजली द्वारा चलने वाली चक्कियाँ बहुत प्रचलित हो गई हैं और हाथ की चक्कियाँ बन्द होती जा रही है । क्या घर की चक्कियाँ बन्द होने के कारण यह कहा जा सकता है कि आस्रव थोडा हो गया है ? घर की चक्कियाँ बन्द करने से तुम निरास्रवी नही हुए हो परन्तु उलटे महा-पाप में पड गये हो । घर की चक्की और बिजली की चक्की का अन्तर देखोगे तो अवश्य मालूम हो जायेगा कि तुम किस प्रकार महापाप मे पड गये हो । विचार करोगे तो हाथ चक्की और बिजली की चक्की मे राई और पहाड जितना अन्तर प्रतीत होगा । बिजली से चलने वाली चक्की से व्यवहार और निश्चय–दोनो की हानि हुई है और साथ ही साथ स्वास्थ्य की भी हानि हुई है और हो रही है पुराने लोग मानते है कि डाकिनी लग जाती है और जिस पर उसकी नजर पड जाती है उसका वह सत्व चूस लेती है । डाकिनी की यह बात तो गलत भी हो सकती है परन्तु बिजली से चलने वाली चक्की तो डाकिनी से भी बढकर है । वह अनाज का सत्व चूस लेती है यह तो सभी जानते हैं । बिजली की चक्की से पीसा हुआ आटा कितना ज्यादा गरम होता है, यह देखने पर विदित होगा कि आटे का सत्व भस्म हो गया है ।

दक्षिण में उरण नामक एक गाँव समुद्र के किनारे बसा है। वहाँ मछली पकडने का काम खूब चलता है। वहाँ का एक भाई मुझसे कहता था— 'मैं एक दिन आटा पिसवाने के लिए फ्लोर मिल मे गया। मैंने वहाँ देखा कि मच्छीमारो की स्त्रियाँ जिस टोकरी में मछलिया बेचती थी, उसी टोकरी मे अनाज भरकर पिसवाने आई थी।' अब विचार करो कि तुम भी उसी चक्की मे आटा पिसवाते हो तो मछलियो की टोकरी मे भरे अनाज के दानो का थोडा बहुत आटा तुम्हारे आटे मे नही आता होगा ? तुम और-और बातो मे तो सावधान रहते हो, परन्तु ऐसो बातो पर ध्यान नही देते। तुम्हारा कोई स्वधर्मी भाई, जो गरीब होने के कारण कपड़े की फेरी करता है या खेती करता है, वह तुम्हारी ही जाति का हो तो भी उसे साथ जिमाने मे परहेज करते हो, परन्तु फ्लोर-मील मे सेलभेल हुए आटे का उपभोग करने मे कोई परहेज नही करते ! यह कितना अंधेर है।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के मुखारविंद से मैंने सुना है कि बीकानेर मे वैद मुहता हिन्दूसिंहजी दीवान थे। वह स्थानकवासी जैन थे। बीकानेर मे उनकी खूब प्रतिष्ठा थी और राजदरबार मे भी बडी इज्जत थी। एक बार दीवान साहब भोजन करने बैठे ही थे कि एक घी की फेरी करने वाला वणिक् आया। उसने दीवान साहब से कहा— 'क्या आप घी खरीदेगे ? हिन्दूसिंहजी ने उसे देखकर अनुमान किया कि यह कोई महाजन ही है। इस प्रकार अनुमान करके उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भाई, कहाँ रहते हो ?' घी वेचने वाले ने अपना गाँव बतला दिया।

दीवान ने कहा– 'उस गाँव में तो हमारा भाई भी रहता है। वहाँ वैद मुहता का घर है न ? दीवान का यह प्रश्न सुनकर घी-विक्रेता कुछ लज्जित हुआ और कहने लगा– आप इतने बडे आदमी होकर भी हमे याद रखते है, यह बडे ही आनन्द की बात है। हिन्दूसिहजी समझ गये कि यह घी-विक्रेता भी वैद मुहता गोत्र का ही है। तब दीवान ने उससे कहा—'अच्छा भाई, आओ थोडा भोजन कर लो।' घी वाला उनके साथ में भोजन करने मे सकोच करने लगा, पर उन्होने कहा– 'अरे भाई, इसमें लजाने की क्या बात है ? तुम तो मेरे भाई हो।' आखिर दोनो ने एक ही थाल मे भोजन किया और दीवान ने आग्रह करके उसे बढिया-बढिया भोजन जिमाया।

दीवान के इस कार्य से उसका महत्व घटा या बढा ? सुना जाता है कि यहाँ (जामनगर में) अपने सहधर्मी भाइयो के साथ भेदभाव रखा जाता है। सहधर्मी भाइयो मे भेद डालने वाले किसी भी विधान को स्वीकार करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? खेती करने वाले गरीब सहधर्मी भाइयो के साथ इस तरह का भेदभाव रखा जाता है परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न किये अनाज के साथ कोई भेदभाव नही किया जाता ! गरीब भाइयो द्वारा उत्पन्न किया अनाज खाना छोड दो तो पता चलेगा कि उनके प्रति भेदभाव रखने का क्या नतीजा होता है ! आज दूसरे लोग तो अस्पृश्यो को भी स्पृश्य बनाते जा रहे है और तुम अपने ही जाति भाइयो को दुरदुरा रहे हो ! तुम उनके साथ भी परहेज करते हो ! वह तो जैन है, तुम्हारी ही जाति के है और यहाँ आकर धर्मक्रिया भी करते है। परन्तु वह भी

तुम्हारे साथ भोजन करने नही आ सकते ! भला वह लोग इस प्रकार का अपमान कैसे सहन कर सकते हैं ? ऐसी स्थिति मे अपने सहधर्मी के लिए या अपने धर्म के लिए कष्ट सहन करना पडे तो सह लेना उचित है, किन्तु इस विधान को बदलना आवश्यक है। इस प्रथा को मिटाने के लिए अगर कुछ कष्ट भी सहना पडे तो ऐसा कष्ट-सहन कोई बुरी बात नही है।

सारांश यह है कि लोग अपने हाथ से काम न करके दूसरो से काम कराने मे अपनी महत्ता मानते हैं। उन्हे इस बात का विचार ही नही है कि अपने हाथ से और दूसरे के हाथ से काम करने-कराने मे कितना ज्यादा अन्तर है।

ठनठनपाल श्रीमान् था, फिर भी उसकी पत्नी पीसना, कूटना आदि काम अपने ही हाथ से करती थी। किन्तु जब वह अपनी पडोसिनो से मिलती तो पडोसिने उसकी हँसी करने के लिए कहती—'पधारो श्रीमती ठनठनपालजी !' ठनठनपालजी की पत्नी को यह मजाक रुचिकर नही होता था।

एक दिन इस मजाक से उसे बहुत बुरा लगा। वह उदास होकर बैठी थी कि उसी समय सेठ ठनठनपाल आ गये। अपनी पत्नी को उदास देखकर उन्होने पूछा—'आज उदास क्यो दिखाई देती हो ? सेठानी बोली—तुम्हारा यह नाम कैसा विचित्र है ! तुम्हारे नाम के कारण पडोसिनें मेरी हँसी करती है। तुम अपना नाम बदल क्यो नही डालते ? ठनठनपाल ने कहा—मेरे नाम से सभी लेनदेन चल रहा है। अब नाम बदल लेना सरल बात नही है। कैसे बदल सकता हूं ? उसकी पत्नी बोली—'जैसे बने तैसे तुम्हे यह नाम तो बदलना ही पड़ेगा। नाम न बदला तो मैं अपने

मायके चली जाऊँगी। ठनठनपाल ने कहा— मायके जाना है तो अभी चली जा, मगर मैं अपना नाम नही वदल सकता। तेरी जैसी हठीली स्त्री मायके चली जाये तो हर्ज भ क्या है?

ठनठनपाल की स्त्री रूठ कर मायके चली। वह नगर के द्वार पर पहुँची कि कुछ लोग एक मुर्दे को उठाये वहाँ से निकले। सेठानी ने उनसे पूछा—'यह कौन मर गया है?' लोगो ने उत्तर दिया—'अमरचन्द भाई का देहान्त हो गया है।' यह सुनकर सेठानी सोचने लगी—'अमरचन्द नाम होने पर भी वह मर गया! उसके पैर वही भारी हो गये, फिर भी वह हिम्मत करके आगे वढी। कुछ आगे जाने पर उसे एक गुवाल (गाय चराने वाला) मिला। सेठानी ने उसका नाम पूछा। उत्तर मिला—मेरा नाम धनपाल है। सेठानी सोचने लगी—यह धनपाल है या पशुपाल? सोच-विचार में डूबी सेठानी थोडी और आगे वढी। वहाँ एक स्त्री छाणा (कडा) वीनती दिखाई दी। सेठानी ने उससे पूछा—वहिन तुम्हारा क्या नाम है? उसने उत्तर दिया—'लक्ष्मीवाई।' यह नाम सुनकर सेठानी को वडा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगी—नाम है इसका लक्ष्मीवाई और वीनती फिरती है कडा!

यह सव विचित्र घटनाएँ देखकर सेठानी का दिमाग ठिकाने आया। वह घर लौट आई। सेठ ने कहा—'आज तो कुछ समझ आ गई दीखती है। मगर कल जैसा तूफान तो नही मचाओगी? सेठानी वोली—अव मैं समझ गई हू। सेठ के पूछने पर वह वोली—

अमर मरंता मैंने देखे, ढोर चरावे धनपाल।
लक्ष्मी छाणा वीनती, धन धन ठनठनपाल॥

कहने का आशय यह है कि लोक मे इस प्रकार के

अर्थहीन नाम भी पाये जाते हैं । इस आधार पर नाम के विषय मे इस प्रकार चौभगी बन जाती है :—

(१) नाम सुन्दर हो मगर गुण सुन्दर न हो ।
(२) गुण सुन्दर हो पर नाम सुन्दर न हो ।
(३) नाम भी सुन्दर हो और गुण भी सुन्दर हो ।
(४) नाम भी सुन्दर न हो और गुण भी सुन्दर न हो ।

यह अध्ययन तीसरे भग में गर्भित होता है । इस अध्ययन का नाम भी सुन्दर है और गुण भी सुन्दर है । इसका नाम गुणनिष्पन्न है । सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागसूत्र, यह दोनो नाम भी अप्रमत्त अध्ययन नाम के समान ही गुणनिष्पन्न हैं । क्योकि अप्रमत्तता से ही सम्यक्त्वपराक्रम होता है और वीतरागता भी उसी से प्राप्त होती है । अतएव यह दोनो नाम भी गुणनिष्पन्न ही हैं ।

यद्यपि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीनो ही नाम सगत है, तथापि निर्युक्तिकार ने इसे विशेषत अप्रमत्त अध्ययन ही कहा है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्व मे पराक्रम करना या अप्रमत्त वनना एक ही बात है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करने का उद्योग करना भी एक ही बात है । इस प्रकार की अप्रमत्तता प्राप्त करने का फल क्या है, यह बात इस अध्ययन के ७३ बोलो मे बतलाई गई है । यहाँ सिर्फ यही कहना पर्याप्त है कि उक्त तीनो नाम सगत हैं । भव्य जीव जो उद्योग करते हैं वह वीतरागता प्राप्त करने के ही उद्देश्य से करते हैं । अतएव वीतरागसूत्र नाम भी सार्थक ही है ।

साधारणतया ससार के सभी जीव कोई न कोई उद्योग

सुना है वही सुनाता हू ? यह लघुता उन्होने किसलिए धारण की ? यद्यपि ठीक-ठीक यह नही कहा जा सकता कि ऐसा करने का उद्देश्य क्या था, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार की नम्रता और निरभिमानता रखने वाला कभी दुःख मे नही पड़ता । अभिमान ही ससार मे लोगो को खराब करता है । सुधर्मास्वामी मे ऐसा अभिमान ही नही रहा था ।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा--'मैंने भगवान् महावीर से सुना है, वही तुझे सुनाता हू ।' इस कथन का उद्देश्य यह बतलाना भी हो सकता है कि भगवान् की पाट-परम्परा किस प्रकार चली आ रही है ।

शास्त्रों द्वारा हमे ज्ञात है कि चौदह हजार साधुओ मे गौतस्वामी सब से बड़े थे और सुधर्मास्वामी उनसे छोटे थे । ऐसा होने पर भगवान् के पाट पर गौतमस्वामी विराजमान नही हुए । इसका कारण यही मालूम होता है कि भगवान् का निर्वाण होते ही गौतमस्वामी केवलज्ञानी हो गये थे । केवलज्ञानी होने के कारण गौतमस्वामी की योग्यता कुछ कम नही हो गई थी, फिर उन्ही को पाट पर क्यो नही बिठलाया गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाट पर बिठलाने मे योग्यता का प्रश्न नही था किन्तु पाट-परम्परा का प्रश्न था । पाट-परम्परा तभी चल सकती है जब गुरु-शिष्य की परम्परा बराबर चलती रहे और शिष्य सूत्रादि के सम्बन्ध मे यह कहता रहे कि 'मैंने अपने गुरु से इस प्रकार सुना है,' अगर गौतमस्वामी इस प्रकार कहते कि मैंने गुरु से ऐसा सुना है, तो उनके केवलीपन मे बाधा उपस्थित होती । केवली को अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करना चाहिए

अर्थात् अपना ही निर्णय देना चाहिए। कदाचित् गौतम स्वामी अपनी ही तरफ से कहते और भगवान् महावीर से सुनने का उल्लेख न करते तो ऐसा करने से भगवान् की परम्परा भग हो जाती। इसी कारण सुधर्मास्वामी को पाट पर विराजमान किया गया था। इस प्रकार सुधर्मास्वामी ने भगवान् के पाट पर बैठ कर जो कुछ कहा, वह सब भगवान् के ही नाम पर कहा है।

उस समय के सघ का प्रबन्ध कितना उत्तम था और गुरुपरम्परा कायम रखने के लिए कितना ध्यान दिया जाता था ! यह ध्यान देने योग्य है। सुधर्मास्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के स्वामी थे और भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके पाट पर बैठ कर इच्छानुसार कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा कुछ भी नही किया, वरन् गुरुपरम्परा सुरक्षित रखी। ऐसे युगप्रधान महापुरुष ही अपना और पराया कल्याण कर सकते हैं।

हम और आप आत्मा का कल्याण करने के लिए ही यहाँ एकत्र हुए हैं, परन्त आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम अहकार को तिलाजलि देने की आवश्यकता है। अहकार का त्याग किये विना आत्मा का कल्याण नही हो सकता। अहकार का त्याग करने के लिए सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा कि 'मैंने भगवान् महावीर से जो सुना है वही तुझे सुनाता हूं।' सुधर्मास्वामी के यह वचन सुनकर जम्बूस्वामी के मन मे कैसा भाव उत्पन्न हुआ होगा ? उनके हृदय मे प्रथम तो सूत्र के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ होगा कि यह सूत्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित है। दूसरे, सुधर्मास्वामी के प्रति भी ऐसा सद्भाव उत्पन्न हुआ होगा कि मेरे गुरु अपने

करते ही रहते हैं। एक छोटे से छोटा एकेन्द्रिय जीव भी, जितने समय में एक सामायिक की जाती है उतने समय मे (४८ मिनिट मे) ही ६५५३६ बार जन्म लेता है और मरता है और उद्योग करता ही रहता है। किन्तु वह उद्योग वीतरागता प्राप्त करने के लिए नही है। प्रमाद का त्याग करके जो उद्योग किया जाता है, वही वीतरागता प्राप्त करने के लिए किया हुआ उद्योग कहलाता है। इस प्रकार इस अध्ययन का 'वीतरागसूत्र अध्ययन' नाम भी ठीक है।



अध्ययन का आरम्भ

इस अध्ययन को आरम्भ करते हुए कहा गया है :-

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एयमक्खायं , इह खलु सम्मतत्तपरक्कमे नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कास-वेण पवेइयं ।

यह सूत्रपाठ है। इस सूत्रपाठ मे मगलवचन क्या है, यह देखना चाहिये। साधारण रूप से सूत्र की आदि मे, मध्य मे और अन्त मे मगलाचरण करने का नियम है, परन्तु यह अध्ययन स्वय ही मगल रूप है अर्थात् भगवान् की वाणी ही है। अतएव यहाँ अलग मगलाचरण करने की आवश्यकता नही है। इस सूत्रपाठ मे सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू-स्वामी से कहते है-'हे आयुष्मन् ! मैंने भगवान् महावीर से जो सुना है, वह तुझे सुनाता हू।'

सुधर्मास्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धनी थे, फिर भी उन्होने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहा है कि भगवान् महावीर से मैंने जो सुना है वही सुनाता हूं। जव सुधर्मास्वामी स्वयमेव इतने ज्ञानी थे तो उन्हे ऐसा कहने की क्या आवश्यकता पड़ी ? क्या वह स्वय ऐसा कथन नही कर सकते थे ? या स्वय सूत्र नही रच सकते थे ? वह सूत्र भी रच सकते थे और कह भी सकते थे। फिर भी उन्होने एक लघु व्यक्ति की तरह क्यो कहा कि मैंने भगवान् से जो

सुना है वही सुनाता हू ? यह लघुता उन्होने किसलिए धारण की ? यद्यपि ठीक-ठीक यह नही कहा जा सकता कि ऐसा करने का उद्देश्य क्या था, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार की नम्रता और निरभिमानता रखने वाला कभी दुःख मे नही पडता । अभिमान ही ससार मे लोगों को खराब करता है । सुधर्मास्वामी में ऐसा अभिमान ही नही रहा था ।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—'मैंने भगवान् महावीर से सुना है, वही तुझे सुनाता हू ।' इस कथन का उद्देश्य यह बतलाना भी हो सकता है कि भगवान् की पाट-परम्परा किस प्रकार चली आ रही है ।

शास्त्रो द्वारा हमे ज्ञात है कि चौदह हजार साधुओ मे गौतस्वामी सब से बड़े थे और सुधर्मास्वामी उनसे छोटे थे । ऐसा होने पर भगवान् के पाट पर गौतमस्वामी विराजमान नही हुए । इसका कारण यही मालूम होता है कि भगवान् का निर्वाण होते ही गौतमस्वामी केवलज्ञानी हो गये थे । केवलज्ञानी होने के कारण गौतमस्वामी की योग्यता कुछ कम नही हो गई थी, फिर उन्ही को पाट पर क्यो नही बिठलाया गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाट पर बिठलाने मे योग्यता का प्रश्न नही था किन्तु पाट-परम्परा का प्रश्न था । पाट-परम्परा तभी चल सकती है जब गुरु-शिष्य की परम्परा बराबर चलती रहे और शिष्य सूत्रादि के सम्बन्ध मे यह कहता रहे कि 'मैने अपने गुरु से इस प्रकार सुना है,' अगर गौतमस्वामी इस प्रकार कहते कि मैंने गुरु से ऐसा सुना है, तो उनके केवलीपन मे बाधा उपस्थित होती । केवली को अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करना चाहिए

अर्थात् अपना ही निर्णय देना चाहिए। कदाचित् गौतम स्वामी अपनी ही तरफ से कहते और भगवान् महावीर से सुनने का उल्लेख न करते तो ऐसा करने से भगवान् की परम्परा भग हो जाती। इसी कारण सुधर्मास्वामी को पाट पर विराजमान किया गया था। इस प्रकार सुधर्मास्वामी ने भगवान् के पाट पर बैठ कर जो कुछ कहा, वह सब भगवान् के ही नाम पर कहा है।

उस समय के सघ का प्रबन्ध कितना उत्तम था और गुरुपरम्परा कायम रखने के लिए कितना ध्यान दिया जाता था! यह ध्यान देने योग्य है। सुधर्मास्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के स्वामी थे और भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके पाट पर बैठ कर इच्छानुसार कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा कुछ भी नही किया, वरन् गुरुपरम्परा सुरक्षित रखी। ऐसे युगप्रधान महापुरुष ही अपना और पराया कल्याण कर सकते हैं।

हम और आप आत्मा का कल्याण करने के लिए ही यहाँ एकत्र हुए हैं, परन्त आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम अहकार को तिलाजलि देने की आवश्यकता है। अहकार का त्याग किये बिना आत्मा का कल्याण नही हो सकता। अहकार का त्याग करने के लिए सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा कि 'मैंने भगवान् महावीर से जो सुना है वही तुझे सुनाता हूं।' सुधर्मास्वामी के यह वचन सुनकर जम्बूस्वामी के मन मे कैसा भाव उत्पन्न हुआ होगा? उनके हृदय में प्रथम तो सूत्र के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ होगा कि यह सूत्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित है। दूसरे, सुधर्मास्वामी के प्रति भी ऐसा सद्भाव उत्पन्न हुआ होगा कि मेरे गुरु अपने

गुरु की पाटपरम्परा का कैसा विचार-विवेक रखते हैं ! और उनमे कैसी नम्रता और निरभिमानता है ।

'मैंने भगवान् से इस प्रकार सुना ।' सुधर्मास्वामी के इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता है कि सुधर्मास्वामी छद्मस्थ थे । छद्मस्थ से किसी वात में भूल भी हो सकती है, परन्तु केवलज्ञानी भगवान् की वाणी में तो किसी भूल की सम्भावना ही नही है। छद्मस्थ की वात पर सदेह भी किया जा सकता है किन्तु भगवान् की वात पर सदेह करने का कोई कारण नही। इसी अभिप्राय से सुधर्मास्वामी ने कहा है कि 'मैने भगवान् से जो सुना है, वही तुझे सुनाता हू।' इस कथन से किसी प्रकार के सदेह की गुंजाइश ही नही रहती ।

मान लीजिये, एक मनुष्य अपनी जीभ से सौ बातें कहता है और दूसरा आदमी एक ही बात कहकर उसके प्रमाण में शास्त्र-वचन वतलाता है। ऐसी स्थिति मे किसकी बात प्रामाणिक मानी जायगी ? श्रावक तो वही बात मान सकता है जो शास्त्र-सम्मत हो । शास्त्र से विरुद्ध मानने वाला श्रावक तो क्या सम्यग्दृष्टि भी नही हो सकता। इसी प्रकार सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से जो कुछ कहा है, वह भगवान् के नाम पर कह कर उसे प्रमाणभूत बना दिया है । अर्थात् सुधर्मास्वामी ने कहा कि मै अपनी ओर से कुछ भी नही कहता । मैं जो कुछ कहता हूं, भगवान् का कहा ही कहता हू। ऐसा कह कर सुधर्मास्वामी ने अपना कथन प्रामाणिक सिद्ध कर दिया है ।

आज कहाँ भगवान् महावीर ! कहाँ सुधर्मास्वामी ! कहा जम्बूस्वामी ! और कहाँ आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पहले सुनाये गये शास्त्रवचन ! फिर भी आज जो शास्त्र-

वचन हमें सुनने को मिलते है, यह हम लोगों का कितना सद्भाग्य है ! न जाने कितने जन्म-मरण करने के पश्चात् हम लोगो को यह मनुष्यजन्म मिला है और इसमे भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और जैनधर्म प्राप्त करने का सुयोग मिला है। आज हम लोगो को जिनवाणी सुनने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। यह क्या कम सौभाग्य की बात है ?

सुधर्मास्वामी ने कहा है-'मैंने भगवान् से ऐसा सुना है।' इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस सूत्रवचन पर आदरभाव उत्पन्न हो और सूत्रश्रवण करना सौभाग्य की बात समझी जाये। सुधर्मास्वामी के यह वचन सुनकर शिष्य को अवश्य ही कर्त्तव्य का भान हुआ होगा। उसने सोचा होगा--चार ज्ञान और चौदह पूर्व के स्वामी होते हुए भी यह महानुभाव अपनी बात नही सुनाते वरन् गुरुपरम्परा ही सुनाते है, तो मेरा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? इन गुरु महाराज का मुझ पर अनन्त उपकार है, अतएव मुझे भी ऐसा ही कहना चाहिए कि-मैंने भी अपने गुरु से इस प्रकार सुना है।

इस प्रकार गुरु द्वारा सुनी हुई बात कहने से और गुरुपरम्परा सुरक्षित रखने से ही यह सूत्र आज हम लोगो को इस रूप मे उपलब्ध हो सका है। भगवान् से सुधर्मास्वामी ने यह सूत्र सुना, सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी ने सुना और जम्बूस्वामी से प्रभवस्वामी ने यही सूत्र सुना। इस प्रकार क्रमश. गुरुपरम्परा से चलता आने के कारण ही भगवान् की यह वाणी आज भी विद्यमान है।

यह भगवान् की वाणी है, ऐसा कहने का एक कारण और भी है। पहले के ज्ञानीजन यह जानते थे कि आगे

पचमकाल आ रहा है और वह अत्यन्त विषम है। पचमकाल में ससारमथन के कारण अनेक प्रकार के विष निकलेंगे। ऐसा जानकर उन्होने पचमकाल को किंचित् सरल बनाने के उद्देश्य से सूत्र का यह मार्ग खोल दिया है। किन्तु सूत्र का मार्ग खोलते हुए उन्होने स्पष्ट कह दिया है कि यह मार्ग हमारा बतलाया नही है, वरन् जगत् का कल्याण करने वाले भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित यह मार्ग है। उन करुणासागर महावोर प्रभु की यह कैसी असीम करुणा है! इस पचमकाल मे यो तो अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित होगी, परन्तु जगत् का कल्याण करने वाली बात की निशानी याद रखना कि जो बात भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी से कही थी, सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कही थी, वही बात कल्याणकारिणी है। यह बात स्मरण रखने से तुम कभी किसी के धोखे मे नही आओगे।

जैसे राजमार्ग विश्वास के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार भगवान् का बतलाया हुआ यह राजमार्ग भी विश्वास के योग्य है। भगवान् का यह राजमार्ग कल्याण का मार्ग है, ऐसा विश्वास रख कर उसी पर चलते चलो तो अवश्य ही तुम्हारा कल्याण होगा।

सुधर्मास्वामी ने कहा है 'मैंने भगवान् से ऐसा सुना है, तो सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि भगवान् कौन हैं? और भगवान् का अर्थ क्या है? भगवान् शब्द 'भग्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'भग' का अर्थ इस प्रकार है :–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णां भग इतीङ्गना॥

अर्थात्–जिसमे सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य

और मोक्ष, यह छह गुण हो वह भगवान् कहलाता है ।

जिस व्यक्ति मे उपर्युक्त छह गुण हो वह भगवान् कहलाता है । भगवान् महावीर मे यह सब गुण विद्यमान थे, इसी कारण उन्हे भगवान् कहते है । ऐसे भगवान् की वाणी अपनी आत्मा का कितना उपकार करने वाली है, इस बात का विचार करो और यह वचन सुनकर आत्मा को जागृत करो, प्रेरित करो और बलवान् बनाओ । ऐसा अवसर बार-बार मिलना कठिन है ।

'भज कलदार भज कलदार भज कलदारं मूढ़मते !'

अर्थात् आजकल कल्दार (रुपया) का बल माना जाता है, परन्तु कल्दार के बल मे क्या दुःख समाया हुआ नही है ? मान लीजिए, आपके जेब मे पचास हजार के नोट है । आप इन नोटो के बल पर अपने को सशक्त मानते है । आपके इन नोटो का पता किसी दूसरे को चल गया । उसनें विचार किया—पाप किये बिना तो पैसा आता नही है, फिर इस नोट वाले को मार कर उसके नोट क्यो न ले लूँ ? दूसरे मनुष्य ने इस प्रकार विचार किया । उसी समय तीसरा मनुष्य आता है और दूसरे से कहता है–अगर तुझे पैसे की आवश्यकता है तो और कोई उद्योग कर । पैसे छीनने के लिए उसे मारने का विचार मत कर ।' अब आपको इन दोनो मे से कौन मनुष्य भला मालूम होगा ? जो तुम्हे मार कर पैसा छीन लेना चाहता है, वह तुम्हे अच्छा लगेगा या तुम्हे न मारने के लिए कहने वाला और पैसे के लिए अन्य उद्योग करने का उपदेश देने वाला अच्छा लगेगा ? तुम्हें मारने की नाही करने वाला ही अच्छा लगेगा । मार कर नोट छीनने का विचार करने वाला बुरा लगेगा । यह ठीक

हमेशा की झंझट ठीक नही । अगर यह जाना ही चाहती है तो जाने देने मे ही कुशल है । इस प्रकार विचार कर जाट ने अपनी पत्नी से कहा- 'तू जाना चाहती है तो मेरे यह गहने, जो तूने पहन रखे है, उतार दे ।' जाटिनी उस समय तैश मे थी ही । उसने सोच-विचार किये विना ही गहने उतार दिये । जाट ने कहा--'यह तो ठीक है, मगर घर मे पानी नही है। तुझे जाना ही है तो आज एक घडा पानी तो ला दे ।' जाटिनी ने विचार किया-अगर एक घडा पानी भर देने से ही छुटकारा मिलता है तो भर देने मे क्या हर्ज है ? ऐसा विचार कर वह पानी भरने गई। इधर जाट हाथ मे डडा लेकर चौराहे पर जा पहुँचा । ज्यो ही जाटिनी पानी का घडा लिए वहाँ पहुँची कि जाट ने होहल्ला मचा दिया । वह चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा-'वस, तू यही से लौट जा। घर की तरफ एक भी कदम मत रखना ।' तमाशा देखने के लिए वहुतेरे लोग इकट्ठे हो गये। किसी-किसी ने पूछा-'भाई वात क्या है ?' जाट ने स्पष्टीकरण किया--'मुझे ऐसी स्त्री नही चाहिए ।' जाटनी ने कहा-'मैं तुम्हारे पास रहना ही कहाँ चाहती थी।' जाट वोला-'बस, तू मेरे घर मे रहने लायक ही नही है। यहाँ से अव एक कदम भी घर की तरफ मत रख। जहाँ तेरा जी चाहे, चली जा ।'

मतलव यह है कि जाट की स्त्री तो जाना ही चाहती थी और गई भी सही, मगर लोगो मे यह प्रसिद्ध हो गया कि जाट ने स्वयं अपनी स्त्री का परित्याग कर दिया है । ऐसा करके जाट अपमान से वच गया और उसका दु ख भी जाता रहा ।

इस उदाहरण को सामने रखकर तुम अपने विषय में विचार करो कि ससार की वस्तुओ के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ? ससार की वस्तुएँ तुम्हे छोडे और तुम उन वस्तुओ को छोडो, इन दोनो मे कुछ अन्तर है या नही ? दोनो का अन्तर समझकर अपना कर्त्तव्य निर्धारित करो ।

तुम्हारे काले बाल सफेद हो गये है । यह तुम्हारी इच्छा से हुआ या अनिच्छा से ही ? तुम तो अपने बाल काले ही रखना चाहते थे, लेकिन ऐसा नही हुआ । वह सफेद हो गये । यह बाल तुम्हे चेतावनी दे रहे हैं कि जब तुम हमे ही अपने काबू मे नही रख सके तो और-और वस्तुओ पर क्या काबू रख सकोगे ! सभी चीजे हमारी ही तरह बदलने वाली है ।

इस कथन का आशय यह नही कि तुम अपना शरीर नष्ट कर दो । आशय यह है कि शरीर पर भी ममता मत रखो । जैसे गौतमस्वामी शरीर मे रहते हुए भी शरीर के प्रति ममत्वहीन थे, उसी प्रकार तुम भी निर्मम बनने का अभ्यास करो । गौतमस्वामी शरीर मे रहते हुए भी अशरीरी थे । तुम भी उन सरीखे बनो । कदाचित् उनके समान ऊँची स्थिति प्राप्त नही कर सकते तो भी कम से कम इतना तो करो कि शरीर के लिए दूषित खान-पान का सेवन करना छोडो ।

कितनेक लोग शरीर-पोषण के लिए धर्म को बाधा पहुँचाने वाली चीजे खाते हैं । मगर इससे क्या शरीर चिर-स्थायी बन सकता है ? नही तो धर्म से पतित क्यो होना चाहिए ? अतएव तुम कम से कम ऐसा अनुचित कार्य तो

भी है ।

मोह के प्रताप से ऐसा होता है कि जो बात अपने लिए देखी-सोची जाती है, वही बात दूसरो के लिए नही सोची जाती । तुम्हे तो नोट बचाने वाला अच्छा लगता है, परन्तु तुम स्वय क्या करते हो, यह भी तो देखो । हम साधु तुमसे यही कहते है कि तुम भी पराया धन मत लूटो और दूसरे के अधिकार की चीज पर जबरदस्ती अपना अधिकार मत जमाओ ।

कहा जा सकता है कि गृहस्थो को तो पैसे का बल चाहिए ही । कदाचित् यह बात सत्य हो तो भी हमेशा ध्यान में रखो कि पैसा तुम्हारा हो और तुम पैसे के हो रहो, यह दोनो बाते अलग-अलग हैं । पैसे को अपने अधीन रखना एक बात है और स्वय पैसे के अधीन हो जाना दूसरी बात है । अपने विषय मे विचार करो कि पैसा तुम्हारे अधीन है या तुम पैसे के अधीन हो ? अगर तुम पैसे के अधीन न होओगे और पैसा तुम्हारे अधीन होगा तो तुम पैसे से सत्कार्य किये बिना रह ही नही सकते । अतएव गृहस्थो के लिए अगर पैसे का बल आवश्यक ही समझा जाता हो तो भी इतना अवश्य खयाल रखो कि तुम स्वयं पैसे के अधीन न बन जाओ । पैसे के कारण अभिमान धारण न करो । गाँठ मे पैसा हो तो विचार करो कि मैने न्याय-नीति और प्रामाणिकता से यह धन उपार्जन किया है, अतः इसका उपयोग किसी सत्कार्य मे हो जाये तभी मेरा धनोपार्जन करना सार्थक है । आपके मन मे ऐसा विचार आए तो अच्छा है । इसके विपरीत कदाचित् आप यह विचार करने लगे कि—

पैसो म्हारो व्हालो भाई, पैसो म्हारो व्हालो भाई ।
साचो छे तारी सगाई, जगतमां बीजी वधी ठगाई ।
तारा बिना तो लागे मुजने, सूनो सकल संसार ।
तारा ऊपर बधो मारो, जीवननो छे आधार ।
तूं छे मोटो परमेश्वर, हुं छुं तारो दास ।
मरतां मरतां पण बांधीश गले, त्यारे थाशे हाश ॥

तुम्हारे हृदय मे पैसे के सम्बन्ध मे इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई तो निश्चय ही तुम पैसे के गुलाम बन जाओगे । पैसा तुम्हारा परमेश्वर वन जायेगा । तुम इस सम्वन्ध मे विचार करो और ससार की अन्यान्य वस्तुओ के विषय मे भी यही देखो । श्रीसूयगडागसूत्र मे कहा है—

चित्तमतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एव दुक्खा ण मुच्चइ ॥

अर्थात्—जव तक परिग्रह के दास बने रहोगे तब तक आत्मा का कल्याण नही कर सकोगे । इसलिए परिग्रह के दास मत बनो, वरन् परिग्रह को अपना दास बनाओ ।

अगर तुम किसी वस्तु के प्रति ममत्व न रखो तो परिग्रह तुम्हारा दास बन जायेगा । ससार की वस्तुओ पर तुम भले ही ममता रखो मगर वह अपने स्वभाव के अनुसार तुम्हे छोड कर चलती बनेगी । ममत्व होने के कारण तब तुम्हे दु ख का अनुभव होगा । अतएव तुम पहले से ही उन वस्तुओ सम्बन्धी ममत्व का त्याग कर दो । इस विषय मे एक जाट की कहानी तुम्हारी सहायता करेगी ।

एक जाट की स्त्री हमेशा अपने पति को भाग जाने की धमकी दिया करती थी । एक दिन जाट ने सोचा–यह

हमेशा की झझट ठीक नही। अगर यह जाना ही चाहती है तो जाने देने मे ही कुशल है। इस प्रकार विचार कर जाट ने अपनी पत्नी से कहा- 'तू जाना चाहती है तो मेरे यह गहने, जो तूने पहन रखे है, उतार दे।' जाटिनी उस समय तैश मे थी ही। उसने सोच-विचार किये बिना ही गहने उतार दिये। जाट ने कहा--'यह तो ठीक है, मगर घर मे पानी नही है। तुझे जाना ही है तो आज एक घड़ा पानी तो ला दे।' जाटिनी ने विचार किया--अगर एक घड़ा पानी भर देने से ही छुटकारा मिलता है तो भर देने मे क्या हर्ज है ? ऐसा विचार कर वह पानी भरने गई। इधर जाट हाथ मे डडा लेकर चौराहे पर जा पहुँचा। ज्यो ही जाटिनी पानी का घड़ा लिए वहाँ पहुँची कि जाट ने होहल्ला मचा दिया। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा--'बस, तू यही से लौट जा। घर की तरफ एक भी कदम मत रखना।' तमाशा देखने के लिए वहुतेरे लोग इकट्ठे हो गये। किसी-किसी ने पूछा--'भाई बात क्या है ?' जाट ने स्पष्टीकरण किया--'मुझे ऐसी स्त्री नही चाहिए।' जाटनी ने कहा-- 'मैं तुम्हारे पास रहना ही कहाँ चाहती थी।' जाट वोला-- 'बस, तू मेरे घर में रहने लायक ही नही है। यहाँ से अब एक कदम भी घर की तरफ मत रख। जहाँ तेरा जी चाहे, चली जा।'

मतलब यह है कि जाट की स्त्री तो जाना ही चाहती थी और गई भी सही, मगर लोगो मे यह प्रसिद्ध हो गया कि जाट ने स्वयं अपनी स्त्री का परित्याग कर दिया है। ऐसा करके जाट अपमान से बच गया और उसका दुःख भी जाता रहा।

इस उदाहरण को सामने रखकर तुम अपने विषय में विचार करो कि ससार की वस्तुओ के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ? ससार की वस्तुएँ तुम्हे छोडे और तुम उन वस्तुओ को छोड़ो, इन दोनों मे कुछ अन्तर है या नही ? दोनो का अन्तर समझकर अपना कर्त्तव्य निर्धारित करो।

तुम्हारे काले बाल सफेद हो गये है। यह तुम्हारी इच्छा से हुआ या अनिच्छा से ही ? तुम तो अपने बाल काले ही रखना चाहते थे, लेकिन ऐसा नही हुआ। वह सफेद हो गये। यह बाल तुम्हे चेतावनी दे रहे हैं कि जब तुम हमे ही अपने काबू में नही रख सके तो और-और वस्तुओ पर क्या काबू रख सकोगे ! सभी चीजे हमारी ही तरह बदलने वाली हैं।

इस कथन का आशय यह नही कि तुम अपना शरीर नष्ट कर दो। आशय यह है कि शरीर पर भी ममता मत रखो। जैसे गौतमस्वामी शरीर मे रहते हुए भी शरीर के प्रति ममत्वहीन थे, उसी प्रकार तुम भी निर्मम बनने का अभ्यास करो। गौतमस्वामी शरीर मे रहते हुए भी अश-रीरी थे। तुम भी उन सरीखे बनो। कदाचित् उनके समान ऊँची स्थिति प्राप्त नही कर सकते तो भी कम से कम इतना तो करो कि शरीर के लिए दूषित खान-पान का सेवन करना छोडो।

कितनेक लोग शरीर-पोषण के लिए धर्म को बाधा पहुँचाने वाली चीजे खाते हैं। मगर इससे क्या शरीर चिर-स्थायी बन सकता है ? नही तो धर्म से पतित क्यो होना चाहिए ? अतएव तुम कम से कम ऐसा अनुचित कार्य तो

न करो। सिद्धान्त भी शरीर के लिए अनुचित कार्य करने का निषेध करता है। सिद्धान्त की इस बात का तुम्हें खूब विचार करना चाहिए।

भगवान् महावीर के निकट रह कर गौतमस्वामी ने जो शक्ति सम्पादन की थी, वह उन्होंने सुधर्मास्वामी को सौंप दी। सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को और जम्बूस्वामी ने प्रभवस्वामी को वह शक्ति प्रदान की। इस प्रकार क्रमशः चली आई सिद्धान्त की शक्ति हमारे पास भी आई है और उस शक्ति का सदुपयोग करने का उत्तरदायित्व हमारे मस्तक पर है। इसीलिए मैं तुमसे कहता हूं—यह धर्म की नौका तैयार है। संसार के मोह में न फँसकर धर्म-नौका पर आरूढ हो जाओ तो तुम्हारा कल्याण होगा और हमारे उत्तरदायित्व का भार हलका होगा। हम लोग सहज ही तुम्हे मिल गये है, मगर सहज ही मिली हुई प्रत्येक चीज की कीमत कुछ कम नहीं होती। कान सहज ही मिले है, पर क्या कान की कीमत मोती से कम है ? नहीं। इसी प्रकार भले ही हम सहज ही तुम्हे मिल गये है, तथापि हमारे कथन का–जो परम्परा से चला आया है मूल्य समझो और अपना कल्याण करो।

श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है :–

सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयणे समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइयं। जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तइत्ता, रोयइत्ता, फासित्ता, पालइत्ता, तीरित्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

श्री सुधर्मास्वामी ने इस सूत्र मे, जो कुछ कहने योग्य था, सभी कुछ कह दिया है। परन्तु इस कथन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किये बिना यह सब की समझ मे नही आ सकता। अतएव इस विषय मे यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इस सूत्र मे सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा है— 'हे आयुष्मन्! मैंने भगवान् महावीर से इस प्रकार सुना है।'

सुधर्मास्वामी जिन तो नही किन्तु जिन सरीखे थे। वह चार ज्ञान और चौदह पूर्व को धारण करने वाले तथा असदिग्ध वचन बोलने वाले थे। स्वय इतने महान् ज्ञानवान् होते हुए भी वह कहते है कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना है। सुधर्मास्वामी महान् विनयवान् और ज्ञानवान् थे। उनके विषय मे जीभ कहने के लिए समर्थ नही है। फिर भी जब प्रसग आ ही गया है तो कुछ शब्द कहता हू।

प्रथम तो सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को 'आयुष्मन्' कह कर सम्बोधन किया। जम्बूस्वामी मे धैर्य, गाभीर्य, त्याग, सेवाभाव आदि अनेक गुण थे, फिर भी सुधर्मास्वामी ने उन्हे गुणसपन्न विशेषण से सम्बोधन न करके 'आयुष्मन्' शब्द से सम्बोधित किया, सो इसका क्या कारण है? यह बात यहाँ विचारणीय है।

ससार मे आयुष्य को विशेष महत्व नही दिया जाता। आयुष्य मे क्या पडा है? उसे तो कीडे-मकोडे भी भोगते है! इस प्रकार कहकर लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु वास्तव में आयु ऐसी उपेक्षा करने योग्य वस्तु नही है। बल्कि आयु के बराबर महत्वपूर्ण कोई दूसरी वस्तु नही है।

इसी अभिप्राय से सुधर्मास्वामी ने 'आयुष्मन्' कहकर जम्बूस्वामी को सम्बोधित किया है ।

समस्त गुण आयु पर अवलम्बित है। गुण सब आधेय है और आयु उनका आधार है। सुधर्मास्वामी ने इस आधार को ही पकडा है । आधार को ग्रहण करने से आधेय का ग्रहण स्वतः हो जाता है । उदाहरणार्थ—यह स्थान आधार है और हम सब इसके आधेय हैं । हम इस स्थान पर बैठे हैं इसने हमे आधार दिया है । ऐसी स्थिति मे आधार का महत्व अधिक है या आधेय का ? यद्यपि आधार का महत्व आधेय के कारण ही है । आधेय न हो तो आधार आधार ही नही माना जा सकता । फिर भी आधार का महत्व आधेय की अपेक्षा अधिक है क्योकि आधार के अभाव मे आधेय ठहर नही सकता । इस प्रकार आयु आधार है और शेप गुण आधेय है। जैसे–पृथ्वी सब जीवो का आधार है मगर पृथ्वी के ऊपर मनुष्य आदि न रहते तो पृथ्वी को कौन पूछता ? उसे किसका आधार माना जाता ? इसी प्रकार अगर आयुष्य के साथ गुण न हो तो उसका भी कोई महत्व नही माना जा सकता । गुण साथ होने से ही आयु की महत्ता है, क्योकि वह अन्य गुणो का आधार है ।

श्री आचारागसूत्र की टीका मे कहा है कि 'आयुष्मान्' विशेषण जैसे जम्बूस्वामी के लिए लागू होता है, उसी प्रकार भगवान् के लिए भी लागू पडता है। जब यह विशेषण भगवान् को लागू किया जाता है तो यह अर्थ होता है कि 'हे जम्बू ! मैंने आयुष्मान् भगवान् से इस प्रकार सुना है ।'

भगवान् को आयुष्मान् कहने का कारण यह है कि भगवान् दो प्रकार के हैं । एक भगवान् आयुष्य-रहित है,

जो मोक्ष में विराजमान है और जिन्हे सिद्ध करते है । दूसरे भगवान् आयुष्यमान् है, जो तेहरवे गुणस्थान मे विराजते हैं और जो अर्हन्त कहलाते है । 'आयुष्मान् भगवान् से मैंने सुना है' ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि यह वाणी कुछ आकाश मे से उतर कर नही आई है किन्तु तेरहवे गुणस्थान मे विराजमान भगवान् के मुखारविन्द से प्रसूत हुई है । कुछ दार्शनिक अपने दर्शन की बात आकाश से उतरी हुई बतलाते है, मगर जैनशास्त्र इस कथन को उचित नही समझता । जैनशास्त्र स्पष्ट शब्दो मे घोषणा करते हैं कि यह वाणी तेरहवे गुणस्थान मे वर्तमान भगवान् की कही हुई है ।

'आयुष्मान्' शब्द के साथ 'भगवन्' शब्द का प्रयोग किया गया है । भगवान् शब्द का साधारण अर्थ पहले बतलाया जा चुका है ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णा भग इतीङ्गना ।।

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष की 'भग' संज्ञा है । यह जिसमे पाये जाते हो वह 'भगवान्' है।

समग्र ऐश्वर्य होना यह पहली बात है । सामान्यतया थोड़ा-बहुत ऐश्वर्य सभी के पास होता है । वैज्ञानिको के कथनानुसार एक रज,कण को भी किंचित् ऐश्वर्य प्राप्त है। वैज्ञानिकों का कथन है कि साधारण तौर पर परमाणु की कोई गिनती नही की जाती, पर परमाणु भी सूर्य की सत्ता धारण करता है । इस प्रकार थोडा-बहुत ऐश्वर्य सभो में पाया जाता है, परन्तु ऐसे ऐश्वर्य के कारण कोई भगवान्

नही कहला सकता । भगवान् तो वही हो सकता है जो समग्र ऐश्वर्य का स्वामी हो। भगवान् मानो अविकल ऐश्वर्य के ही पिंड हैं ।

सब प्रकार का सासारिक ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी अगर वह ऐश्वर्य विपयभोग मे लगा हो तो वह भगवान् होना तो दूर रहा, भगवान् होने का पूर्ण प्रयत्न भी नही कर सकता । भगवान् वही हो सकता है, जिसमे समग्र ऐश्वर्य के साथ ही साथ सम्पूर्ण धर्म भी हो। ऐश्वर्य और धर्म की समग्रता के साथ सम्पूर्ण यश भी होना चाहिए ।

कहा जा सकता है कि भगवान् को यश से क्या मतलब है ? इसका उत्तर यह है कि सभी लोग यश की कामना करते है । लोग अपनी प्रशसा सुनकर प्रसन्न होते है और निन्दा सुनकर नाराज होते है । इससे बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा स्वभावत यश ही चाहती है । काम भले ही कोई अपयश का करे मगर कामना उसमे भी यश की ही होती है ।

भगवान् पूर्णरूप से निष्काम होते हैं। उनमे लेशमात्र भी यश कामना सम्भव नही है । फिर भी उनके लोकोत्तर महान् कार्यों से यश आप ही आप फैल जाता है । उनकी कोई भी प्रवृत्ति अपयशकारक नही होती । भगवान् अठारह दोषो से रहित होने के कारण पूर्ण रूप से यशस्वी है।

भगवान् मे चौथी बात होनी चाहिए । समग्र श्री । भगवान् मे आठ प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी होती है। अलौकिक लक्ष्मी के आगे ससार की लक्ष्मी तुच्छ, अति तुच्छ है । आठ प्रातिहार्य कौन–कौन से है ? इस सम्बन्ध मे कहा है

अशोकवृक्ष. सुग्पुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ।
भामण्डल दुन्दुभिरातपत्र, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ।।

भगवान् के आठ प्रातिहार्यों मे पहला अशोकवृक्ष है। अशोकवृक्ष भगवान् के ऊपर छाया किये रहता है । भगवान् जब चलते हैं तो आकाश मे रह कर अशोकवृक्ष उन पर छाया करता है । भगवान् जब किसी स्थान पर स्थित हो जाते हैं तो उनके पीछे जमीन पर स्थित रहकर छाया करता है ।

दूसरा प्रातिहार्य यह है कि देव भगवान् के पास अचित्त पुष्पो की वर्षा करते है ।

तीसरा प्रातिहार्य भगवान् की दिव्य वाणी है ।

चौथा प्रातिहार्य चामरो का ढुरना है । भगवान् के ऊपर आप ही आप चामर ढुरते रहते हैं। भगवान् के चलने पर आकाश मे स्थित होकर चामर ढुरते हैं। भगवान् जब कहीं स्थित होते है तब जमीन पर स्थित होकर चामर ढुरते है ।

पाँचवाँ प्रातिहार्य भगवान् जब चलते है तब उनके साथ आकाश मे सिंहासन भी चलता है और जहाँ भगवान् विराजते है, वहाँ सिंहासन भी स्थित हो जाता है और उस सिंहासन पर भगवान् विराजते है; ऐसा जान पडता है ।

छठा प्रातिहार्य- भगवान् के मुख-कमल के आस-पास प्रभामडल रहता है, जिससे भगवान् का तेज अत्यन्त बढ जाता है और भगवान् का दर्शन होते ही दर्शनकर्त्ता प्रभावित हो जाता है। आजकल के वैज्ञानिको का भी कथन है कि विशिष्ट पुरुषों के मुख के आसपास प्रभामडल रहता है। प्रभामडल उस विशिष्ट पुरुष की विशिष्टता के अनुसार ही प्रभावपूर्ण

और तेजोमय होता है। प्रभामडल के कारण उस विशिष्ट पुरुप के मुख पर ऐसा तेज चमकने लगता है, जिससे उसके सामने बोलते भी लोग सहम जाते हैं। विशिष्ट पुरुषो के मुखमडल के आसपास प्रभामडल होने की शोध अ धुनिक शोध नही है। प्राचीन चित्रो को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकारो को इसका भलीभाँति ज्ञान था। प्राचीनकाल के राजा-रानी के चित्रो मे भी उनके मुख के आसपास प्रभामडल चित्रित किया हुआ देखा जाता है अर्थात् मुखमडल के आसपास एक तेजपूर्ण गोलाकार प्रदर्शित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन चित्रकारो को प्रभामंडल का ख्याल था। जब साधारण राजा-रानी के मुखमडल के साथ भी प्रभामडल चित्रो मे दिखाई देता है तो भगवान् के मुखमडल के साथ प्रभामडल का होना कौनसी आश्चयजनक बात है? भगवान् के मुखमडल के आसपास जो प्रभामडल होता है वह इतना तेजपूर्ण होता है कि अनेक प्राणी भगवान् का दर्शन करते ही निष्पाप–पाप की भावना से रहित बन जाते हैं।

सातवाँ प्रातिहार्य–जहाँ भगवान् विचरण करते है वहाँ देवता आकाश मे दुन्दुभिनाद करते रहते है दुन्दुभिनाद भगवान् के आगमन की सूचना देता है। इसके सिवाय भगवान् की वाणी भी मानो पाप को नष्ट करने के लिए दुन्दुभिनाद ही है।

लोग कृत्रिम ध्वनि के भुलावे मे पडकर अकृत्रिम ध्वनि को भूल रहे हैं। कोयल जब कूकती है तो इस बात को परवाह नही करती कि कौन उसकी प्रशसा करता है और कौन उसकी निन्दा करता है! वह तो कूकती ही रहती

है। आजकल लोग फोनोग्राम बजाते हैं, मगर उसके स्वर मे क्या कोयल सरीखी स्वाभाविकता है ? गायक या गायिका, जो भी गाते हैं, या तो पैसे के लोभ से गाते है या सभा के प्रभाव से प्रभावित होकर। मगर कोयल न किसी से प्रभावित होती है, न उसे पैसे ही का लोभ छू गया है। इसलिए कोयल की कूक को कोई साधारण मनुष्य अपना नही सकता, महापुरुष ही उसकी कूक को अपना सकते हैं। जो लोग लोभ से प्रेरित होकर गाते है; उनका गान कोयल की मनोहर तान का मुकाबला कैसे कर सकता है ? कोई कह सकता है कि गायिका के गान से हमारा मनोरजन होता है, मगर ऐसा कहने वाला गायिका के समान विषय का भिखारी ही है। ऐसी स्थिति मे अगर उस गान से उसका मनोरजन होता है तो यह स्वाभाविक है। वास्तव मे निरपेक्ष स्वतन्त्रता मे जो बात होती है वह परतन्त्रता में नही हो सकती। कोयल के कूजन में स्वाधीनता है—स्वाभाविक मस्ती है, अतएव उसके कूजन की बराबरी महापुरुष की वाणी ही कर सकती है।

जब कोयल की स्वाधीन वाणी सुनकर ही लोग प्रभावित हो जाते हैं, तो जिन्होने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है उन भगवान् की वाणी से अगर इन्द्र भी प्रभावित हो जाता है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? भगवान् की वाणी दुन्दुभिनाद के समान है। फिर भी भगवान् की यह इच्छा नही होती कि मेरी वाणी कोई सुने ही। उनकी वाणी सुनकर कोई बोध प्राप्त करे या न करे, वह तो उपदेश देते ही रहते हैं।

आठवां प्रातिहार्य—छत्र है। भगवान् जब विचरण

करते हैं तो छत्र आकाश मे चलता रहता है । परन्तु जब भगवान् स्थित होते है तो छत्र भगवान् के ऊपर छाया किये रहता है ।

कहा जा सकता है कि भगवान् को इन सब चीजो से क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है कि इन चीजो के लिए अगर भगवान् की इच्छा होती तो भगवान् के भगवान्पन मे दूषण आता । भगवान् स्वय इसकी इच्छा नही करते । यह सब चीजे तो उनकी पूर्वकृत वीस वोलो* की

---

*अरिहंतसिद्धपवयण-गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खणणाणोवओगे य ।
दंसणविणयआवस्सए य सीलव्वए य निरअइयारे ।
खणलव-तवच्चियाए वेयावच्च समाहीयं ।।
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणप्पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।

भावार्थ— (१) अरिहत (२) सिद्ध (३) प्रवचन (शास्त्र) (४) गुरु (५) स्थविर (६) वहुसूत्री (पडित) (७) तपस्वी—इन सातो का गुणानुवाद करने से (८) ज्ञान मे सतत उपयोग लगाने से (९) सम्यक्त्व का निर्दोष पालन करने से (१०) गुरु आदि पूज्य पुरुषो का विनय करने, देवसी, रायसी, पाक्षिक, चौमासी तथा सवत्सरी, यह पाँचो प्रतिक्रमण निरन्तर करने से (१२) शील-ब्रह्मचर्य आदि, व्रतो-प्रत्याख्यानो का निरतिचार पालन करने से (१३) वैराग्यवृत्ति धारण करने से (१४) वाह्य और आभ्यन्तर तप करने से (१५) सुपात्र दान से (१६) गुरु, रोगी, तपस्वी, वृद्ध तथा नवदीक्षित मुनि की सेवा करने से (१७)

आराधना के फलस्वरूप तीर्थकर पद की प्राप्ति के साथ-साथ स्वत. प्राप्त हुई चीजें है, जो भगवान् के साथ रहती हैं और उन्हे अनुकूलता प्रदान करती हैं। ऐसी स्थिति में इन चीजो के कारण भगवान् को दोष नही लगाया जा सकता। मान लीजिये, एक मनुष्य कही जाने के लिए घर से निकला। जब वह घर से निकला तो सख्त गर्मी थी। धूप भी बहुत थी। वह थोडी दूर गया कि अचानक बादल चढ आया और धूप के बदले छाया हो गई तथा ठडी हवा बहने लगी। इस स्थिति मे उस मनुष्य के लिए क्या कहा जायेगा ? यही कि यह मनुष्य वास्तव मे पुण्यशाली है। वह स्वय नही जानता था कि धूप के बदले छाया हो जायेगी। लेकिन प्रकृति की कृपा से वह धूप से बच गया। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् नही चाहते कि मुझे छत्र-चामर आदि चीजें प्राप्त हो फिर भी पूर्वभव मे की हुई बीस बोलो की आराधना से उन्हे अष्ट महाप्रातिहार्य प्राप्त हो जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि जो समग्र 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी का स्वामी हो वही भगवान् है। भगवान् महावीर समग्र 'श्री' के स्वामी थे।

समाधिभाव–क्षमाभाव धारण करने से (१८) अपूर्व ज्ञानाभ्यास करनें से (१६) बहुमान पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् के वचनो पर श्रद्धा रखने से और (२०) जिनशासन की प्रभावना करने से।

इन बीस सत्कर्मों मे से किसी एक अथवा समग्र सत्कर्मो का विशिष्ट रूप से सेवन करने वाला पुरुष तीर्थङ्कर गोत्र का फल प्राप्त करता है। वह बीच मे देवलोक या नरक का एक भव करके तीसरे भव मे तीर्थङ्कर होता है।

पाँचवी बात यह है कि जिसमें सम्पूर्ण वैराग्य हो वह भगवान् है। समग्र लक्ष्मी के साथ सम्पूर्ण वैराग्य का होना आवश्यक है—देखी या अनदेखी किसी भी वस्तु पर ममत्व न हो। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि देखते ही उन्हें प्राप्त करने का लालच हो आता है और कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय मे सुनने मात्र से लोभ जागृत होता है। जैसे स्वर्ग देखा नही है, उसके विषय में सिर्फ सुना है। उसका लालच होना अनदेखी किन्तु सिर्फ सुनी हुई चीज का लालच होना है। भगवान् तो वही है, जिसे समस्त वस्तुओ का साक्षात् ज्ञान तो हो मगर किसी प्रकार का लोभ-लालच न हो।

छठी बात यह है जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो, वह भगवान् है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष तो शरीर का त्याग करके सिद्धिस्थान प्राप्त कर लेने पर होता है। शरीर में रहते मोक्ष कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि सिद्धिस्थान तो ठहरने का एक स्थान ही है, वह स्वय मोक्ष नही है। वास्तव मे मोक्ष तो यही हो जाता है। निश्चयनय से यही मोक्ष है। वहाँ तो मोक्ष होने के पश्चात् रहना मात्र होता है। मुक्त होने के पश्चात् ही वह स्थान प्राप्त होता है, पहले नही। अतएव मोक्ष यही है। यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए :–

कल्पना कीजिए, एक तूबे पर मिट्टी का लेप लगाया गया है। तूबे का स्वभाव पानी पर तैरने का है पर तूबे पर सात-आठ बार लेप लगाने से वह भारी हो गया है। पानी मे छोडने पर तैरने के बदले वह डूब गया। पानी मे पडा रहने से ऊपर की मिट्टी गल गई और हट गई। मिट्टी हटने से तूबा फिर हल्का हो गया और अपने स्वभाव के

अनुसार ऊपर आ गया । इस प्रकार तू बा यद्यपि ऊपर आ गया है किन्तु मिट्टी के बन्धन से मुक्त तो वह पानी के नीचे ही हो गया था । अगर पानी के नीचे ही वह बन्धनमुक्त न हुआ होता तो ऊपर आ ही नही सकता था । इस एक-देशीय उदाहरण के अनुसार आत्मा भी कर्म के लेप से बद्ध है । जब आत्मा का यह कर्मलेप हट जाता है—आत्मा पूर्ण-रूप से निष्कर्म कर्ममुक्त हो जाता है तभी वह सिद्धिस्थान प्राप्त करता है । आत्मा यहाँ मुक्त न हुआ होता तो सिद्धि-स्थान मे जा ही नही सकता था ।

जीव के लिए यह शरीर आदि बन्धन रूप है। अनन्त केवलज्ञान का प्रकट होना बन्धन से मुक्त होना ही है। फिर भले ही शरीर मे वास हो तो भी आत्मा मुक्त है। सिद्धान्त इस कथन का समर्थन करता है । शास्त्र मे कहा है—'एव सिद्धा वदन्ति परमाणु' अर्थात् सिद्ध भगवान् पर-माणु के विषय मे ऐसा कहते है । यहाँ यह विचारणीय है कि सिद्धगति मे गये हुए सिद्ध भगवान् तो बोलते नही हैं, फिर भी यहाँ कहा गया है कि सिद्ध कहते हैं । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती अरि-हन्त भगवान् को ही सिद्ध कहा है। इस प्रकार इस ससार मे ही मोक्ष है और केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर आत्मा शरीर मे रहता हुआ भी सिद्ध ही है ।

साराश यह है कि जिनमे पूर्वोक्त छह बाते पाई जाती है, वह भगवान् है । आपने यह सुन लिया कि भगवान् कैसे होते हैं । मगर विचार करो कि यह सुनकर आप क्या लाभ उठाना चाहते हैं ? भगवान् के यह गुण सुनकर आपको निश्चय करना चाहिए और समझना चाहिए कि अगर आत्मा,

परमात्मा के इन गुणो को एक वार भी हृदय में धारण कर ले तो वह भववन्धन से सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। पूर्व भव मे आत्मा ने ऐसा नही किया, मगर हे आत्मा! अब ऐसा कर। प्रभुता चाहना तो आत्मा का स्वभाव है, मगर भूल यह हो रही है कि आत्मा अपने भीतर विद्यमान प्रभुता को भूल रहा है और बाहरी प्रभुता मे फँस गया है। इसी कारण उसे प्रभुता नही मिलती; यही नही वरन् वह वन्धन मे पडा हुआ है। इसलिए अब बाहर की प्रभुता के फेर मे न पडकर आन्तरिक ऐश्वर्य प्रकट करे तो उसका कल्याण होने मे विलम्ब नही लगेगा।

जगत् का कल्याण करने के लिए ही भगवान् ने यह वाणी फरमाई है। अतएव यह वाणी हृदय मे उतारना चाहिए। भगवान् महावीर ने साढे बारह वर्ष तक तीव्र तपश्चर्या करके और अनेक कष्ट सहन करके अपने समस्त आवरण दूर किये और तत्पश्चात् ही सिद्धान्त की वाणी उच्चारी। वही वाणी सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कही और आज परम सौभाग्य मे हम लोगो को इसे सुनने का अवसर मिला। अतएव हमे आत्मा को सावधान करना चाहिए कि–'हे आत्मा! तू इस सिद्धान्त-वाणी का त्याग करके कहाँ भटक रही है! तुझे तो ऐसा दुर्लभ सुयोग मिल गया है तो फिर इसे क्यो गँवा रहा है?' सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा– 'हे आयुष्मन् जम्बू! भगवान् ने इस प्रकार कहा है।' अथवा 'हे जम्बू! आयुष्मान भगवान् ने इस प्रकार कहा है।'

आयुष् तो तुम्हे भी प्राप्त है और भगवान् को भी प्राप्त था किन्तु दोनो के आयुष् में कुछ अन्तर है या नही?

तुम्हे जो समय होता है और वकील को जो समय होता है, उसमे कुछ अन्तर है या नही ? जब वकील के और साधारण आदमी के समय मे भी अन्तर होता है तो भगवान् के आयुष्य मे और साधारण मनुष्य के आयुष्य मे कितना अधिक अन्तर न होगा ? इन्द्र आदि देवगण जिन भगवान् को नमस्कार करते है। उन भगवान् ने जो वाणी सुधर्मास्वामी को सुनाई थी और सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सुनाई थी, वही सिद्धान्त-वाणी आज हम लोग सुन रहे है। इस सिद्धान्त-वाणी का महत्व और अपना सौभाग्य कितना महान् है, यह विचार करना चाहिए।

सुधर्मास्वामी कहते है–'हे जम्बू ! भगवान् महावीर ने सुनाया है और मैंने भगवान् से सुना है।' क्या सुना है, इस सम्बन्ध मे वे कहते हैं कि 'यह'–'इदम्' यह कथन अगुलीनिर्देश के साथ किया गया है। जो वस्तु सामने होती है उसी के विपय मे ऐसा कथन किया जाता है। 'खलु का अर्थ निश्चय है' अतएव इस कथन का अर्थ यह हुआ कि–'हे जम्बू ! मैंने निश्चय रूप से भगवान् से सुना है अर्थात् यह सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन मैंने निश्चय ही भगवान् से सुना है।'

पहले कहा जा चुका है कि इस अध्ययन के तीन नाम हैं, परन्तु सूत्र मे यह अध्ययन 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम से ही कहा गया है। जिस अध्ययन मे सम्यक्त्व के लिए किये जाने वाले पराक्रम का विचार किया गया है, वह 'सम्यक्त्वपराक्रम-अध्ययन' कहलाता है।

ससार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं। मिथ्यादृष्टि कोई नही रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा

जाये तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि रहना चाहते है और वास्तव में यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है ? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है। यद्यपि सच्चा सम्यक्त्व अविपरीतता में ही है पर शास्त्रकार यशस्वी काय भी समकित में ही गिनते है।

विपरीत का अर्थ उलटा और अविपरीत का अर्थ सीधा-जैसे का तैसा, होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप मे देखना अविपरीतता है और उल्टे रूप मे देखना विपरीतता है। उदाहरणार्थ—किसी ने सीप देखी। वास्तव मे वह सीप है, फिर भी अगर कोई उसे चाँदी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड में विचरते समय मैंने मृगमरीचिका देखी। वह ऐसी दिखाई देती थी मानो जल से भरा हुआ समुद्र हो। उसमे वृक्ष वगैरह की परछाई भी दिखाई देती है। ऐसा होने पर भी मृगमरीचिका को जल समझ लेना विपरीतता है।

जैसे यह विपरीतता बाह्य-पदार्थों के विषय मे है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय मे भी विपरीतता होती है। शास्त्रोक्त वचन समझ कर जो सम्यग्दृष्टि होगा वह विचार करेगा कि अगर मैंने वस्तु का जैसे का तैसा स्वरूप न समझा तो फिर मैं सम्यग्दृष्टि ही कैसा ?

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमाहट देखकर चाँदी समझ ली जाती है। अगर उसके पास जाकर देखो तो कोई सीप को चाँदी मान सकता है ? नही। इसी प्रकार ससार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे

जाते हैं, तब तक वह जिस रूप मे माने जाते हैं उसी रूप में दिखाई देते हैं, किन्तु अगर पदार्थों के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वह ऐसे नही प्रतीत होंगे, बल्कि एक जुदे रूप मे दिखाई देंगे। जब पदार्थो की वास्तविकता समझ मे आ जायेगी तब उनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विपरीतता मिट जायगी। जब पदार्थो की वास्तविकता का भान होता है और विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्-दृष्टिपन प्रकट होता है। सीप दूर से चॉदी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप मे सीपपन तो पहले भी मौजूद था परन्तु दूरी के कारण ही सीप मे विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चाँदी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता जान पडने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भलीभाति परीक्षण करने से वस्तु के विषय मे ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती है और तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाँति अन्य पदार्थों के विषय मे भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थों के विषय मे विपरीतता किस प्रकार हो रही है, इस विषय में शास्त्र में कहा है—'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना' 'अर्थात् जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना, इत्यादि दस प्रकार के मिथ्यात्व हैं। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव को अजीव मानने वाले बहुत मे लोग है। कुछ का कहना है कि जो कुछ है, यह शरीर ही है। शरीर से भिन्न आत्मा नही है। यह शरीर पाँच भूतो से बना

है और जब पाँचो भूतो का सयोग नष्ट हो जाता है तो शरीर भी नष्ट हो जाता है । इस प्रकार जीव-आत्मा को न मानने वाले भी हैं । यह भी एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु है यह मिथ्याज्ञान । जीव में अजीव की स्थापना करने का कारण यही है कि ऐसी स्थापना करने वाले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर हैं । जब वह सम्यग्ज्ञान के समीप आएँगे तो, जैसे समीप जाने से सीप मे चाँदी का मिथ्याज्ञान मिट जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा । उस समय उन्हे आत्मा का भान होगा ।

पुराने लोग जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नही हुए है, आत्मा मानते है, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रग मे रगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नही करते । जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चाँदी मानली जाती है, उसी प्रकार जीवतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते है । अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचे तो उन्हे प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नही, जीव है ।

'आत्मा नही है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है । उदाहरणार्थ–अँधेरे मे रस्सी साँप जान पड़ती है । किन्तु इस प्रकार का भ्रम तभी हो सकता है जब कि साप का अस्तित्व है । साँप का कही अस्तित्व न होता तो साँप का भ्रम भी कैसे हो सकता था ? जिसने जल देखा है वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है, जिसने कभी कही जल का अनुभव नही किया वह मृगजल देखकर जल की कल्पना ही नही कर सकता । इसी प्रकार आत्मा नही

है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता? और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्या थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि ससार मे जितने भी समासहीन पद है, उन सब पदो के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नही भी होता मगर जिस पद मे समास नही होता उस पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत. उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशश्रृग' पद बोला जाता है। 'शशश्रृग' का अर्थ है खरगोश का सीग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नही है। मगर 'शश' और 'श्रृंग' शब्दो को अलग-अलग कर दिया जाये तो दोनो का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और श्रृग अर्थात् सीग, दोनों ही जगत् मे विद्यमान हैं। जैसे 'शशश्रृग' नही होता उसी प्रकार 'आकाश-पुष्प' भी नही होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनो समस्त-समासयुक्त—पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनो का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलिभाति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होता है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोडा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यो नही होगा?

यह हुई जीव मे अजीव के आरोप की बात। इसी

प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ लोगो का कहना है कि आत्मा एक ही है और जैसे पानी से भरे हजारों घडो में एक ही चन्द्रमा दिखाई देना है, उसी प्रकार यह एक ही आत्मा सब में व्याप्त है। मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। यहाँ उदाहरण में बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारो घडो मे दिखाई देता है, यह तो ठीक है, किन्तु चन्द्रमा पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों मे पूर्णिमा का ही चन्द्र दिखाई देगा और अष्टमी का होगा तो अष्टमी का ही सब में दिखाई देगा। अगर एक ही आत्मा चन्द्रमा की तरह सब शरीरो मे व्याप्त होती तो जो विविधता दिखाई देती है, वह दिखाई न देती। कोई बुद्धिमान दिखाई देता है, कोई बुद्धिहीन। कोई दुखी है, कोई सुखी है, अगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती तो यह विविधता क्यो दिखाई देती ?

इस प्रकार वस्तु की ठीक तरह परीक्षा करने से विपरीतता– भ्राति मिट जाती है और विपरीतता मिटते ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।

यह इस अध्ययन के नाम के एक भाग का विवेचन हुआ। अब यह विचार करना है कि-यह सुनकर करना क्या चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि सम्यक्त्व के लिए पराक्रम करना चाहिए।

साधारणतया सभी लोग ऐसा मानते हैं कि निश्चय में सभी का आत्मा समान है परन्तु व्यवहार करते समय मानो यह बात भुला ही दी जाती है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियो पर मेरा मैत्रीभाव है, इस प्रकार का पाठ तो बोला जाता है, मगर जब कोई गरीब, दुखी या भिखारी

द्वार पर आता है तब इस सिद्धान्त का पालन कितना होता है, यह देखना चाहिए। तुम्हे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होगा तो तुम उस भिखारी या दुखी मनुष्य को भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौड़े जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिए प्रयत्न न करो तो कहा जायेगा कि अभी तुम्हारे अन्त.करण मे सच्चा करुणाभाव उत्पन्न नही हुआ है। तुम्हारे हृदय मे सम्यक्त्व होगा तो सब की रक्षा करने का दयाभाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नही कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नही है तो उससे यही कहा जायेगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नही है। इसी प्रकार जिसमे चिकनापन नही है वह घी ही नही है। वह और कोई चीज होगी। इसी प्रकार हृदय में दयाभाव न हो तो यही कहा जायेगा कि अभी सम्यक्त्व प्राप्त नही हुआ है। जिसमे सम्यक्त्व होगा उसमे दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी-सबध है। इसी कारण सन्त पुरुष ऐसा उपदेश देते हैं कि—

करिये भवि प्राणी धर्म सुखों की खान है,
दया धर्म का मूल कहा है उसका भेद सुनावे,
अनुकंपा जिस दिल में प्रगटे माया ममता जावे रे। करिये०।

क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सभी लोग दया को श्रेष्ठ मानते है। सभी लोग दयाधर्म-दयाधर्म चिल्लाते है। दया के विषय मे किसी का मतभेद नही है। नीतिग्रन्थो में कहा है—

'परस्परविवदमानानां धर्मग्रंथानामहिंसा परमो धर्म इत्यत्रैकवाक्यता'

अर्थात्–धर्मग्रन्थो में अनेक बातो मे मतभेद है किन्तु 'अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है' इस विषय मे किसी का मतभेद नही है। अहिंसा को धर्म मानने से कोई इन्कार नही कर सकता। अगर कोई व्यक्ति इन्कार करता है तो उसके मान्य धर्म-ग्रन्थो से अहिंसा की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है।

इस प्रकार सभी दया मे विश्वास रखते है और अहिंसा को धर्म मानते हैं। किन्तु जिस भारतवर्ष मे दया का इतना प्रचार है उसमे कोई दुःखी नही है ? आज दुःखी मनुष्यो की संख्या भारत मे अधिक है या अमेरिका मे ? यद्यपि अमेरिका आदि पाश्चात्य देशो मे संहारक नीति का प्रसार हो रहा है किन्तु अपने और अपने भाइयो के अधिकारो की रक्षा के लिये ही इस नीति का आश्रय लिया जा रहा है। अपने अधिकारो की रक्षा का प्रसंग आने पर वहाँ के लोग चुपचाप नही बैठे रहते, वरन् लड मरते है और उस समय वे यह नही देखते कि हम किस प्रकार हिंसा पर उतारू हो गये हैं। इतना होने पर भी वे लोग अपने देश के दुखियो की रक्षा करते ही हैं। तुम लोग 'दयाधर्म-दयाधर्म' कहते फिरते हो, फिर भी भाई-भाई के बीच कितना द्वेष भरा हुआ है, यह तो देखो ! अगर तुम सच्चे दयाधर्मी हो तो तुम्हारा व्यवहार ऐसा नही होगा कि जिससे किसी का जरा भी दिल दुखी हो।

सच्चा दयाधर्मी कैसे वस्त्र धारण करेगा ? वह चर्बी वाले वस्त्र पहनेगा अथवा बिना चर्बी के ? कदाचित् बिना चर्बी के वस्त्र महंगे हो तो भी क्या पैसो के लिये दयाधर्म का त्याग कर देना चाहिये ? बम्बई के विषय मे सुना गया है कि वहाँ तबेला की गायो का मांस चार आने सेर बिकता

है और शाक-तरकारी आठ आने सेर। तो क्या कोई भी दयाधर्मी महँगाई के कारण शाक-तरकारी खाना छोडकर उसके बदले सस्ता मास खाना पसन्द करेगा ? मास का नाम कान मे पडते ही दयाधर्म याद आ जाता है, इसका कारण पैत्रिक सस्कार हैं। परन्तु वस्त्रो के विषय मे नही सोचते कि हम क्या कर रहे है ? सुना है चिकागो (अमेरिका) मे जो कत्लखाने हैं, उनमें का रक्त बाहर निकालने के लिये इतने मोटे नल लगाये गये हैं जैसे किसी शहर की बडी बडी गटरे हो। इस प्रकार की घोर हिंसा वाली चर्बी लगे वस्त्र पहनना क्या दयाधर्मी को शोभा देता है ? जो सच्चा दयाधर्मी होगा वह तो यही कहेगा कि ऐसे वस्त्र मुझसे पहने ही नही जा सकते।

दयाधर्म की रक्षा के लिये ही तुमने मांसभक्षण का त्याग कर रखा है। मास के प्रति तुम्हारे दिल मे इतनी तीव्र घृणा है कि प्राण भले ही चले जाएँ मगर तुम मास का स्पर्श तक नही कर सकते। मास न खाने के विषय मे जिस युक्ति का उपयोग किया जाता है, उसी युक्ति का अन्य बातो में अर्थात् कौन वस्तु उपादेय है और कौन हेय है, ऐसा विवेक करने मे उपयोग करने से ही दयाधर्म टिक सकता है। कदाचित् कोई कहे कि दयाधर्म की रक्षा करने में कष्ट सहना पड़ता है तो उसे उत्तर देना चाहिये कि दयाधर्म की रक्षा के लिये कष्ट सहन करना ही उचित है। गजसुकुमार मुनि सयम का पालन करने के लिये ही निकले थे और वह सयम का पालन कर रहे थे, इसी कारण उनके सिर पर कष्ट पडे थे। पर कष्ट पड़ने के कारण उन्होने क्या सयम पालना छोड दिया था ? तो क्या तुम दयाधर्म

की रक्षा के लिये जरासा भी कष्ट नही सहन कर सकते ? यद्यपि पूर्ण दया का पालन तो चौदहवे गुणस्थान में ही सभव है, फिर भी उससे पहले अपनी शक्ति के अनुसार तो दया का पालन करना ही चाहिये और दयाधर्म मे कितनी प्रबल शक्ति रही हुई है और उसके द्वारा आत्मा का किस प्रकार कल्याण हो सकता है, इस बात की परीक्षा करनी चाहिये ।

अहिसा का पालन करने के कारण कभी दुःख हो ही नही सकता । आजकल नये रोग नजर आते है उनके लिये अहिसा उत्तरदायी नही है वरन् हिसा ही जवाबदार है । शास्त्र कदापि नही कहता कि तुम मैले-कुचैले रहो और गदगी भरे रखो । वस्तुतः मैलेपन और गदगी के कारण ही रोग फैलते हैं । यह एक किस्म की हिसा ही है । इसी प्रकार रगडे-झगडे, रार-तकरार और क्लेश-कदाग्रह भी हिंसा के ही फल है । अहिसा के कारण कभी झगडा नही होता । न्यायालय में जाकर जाँच करो तो मालूम होगा कि एक भी मुकदमा अहिसा के कारण नही हुआ है । अहिसा की महिमा बतलाते हुए कहा है—

गज भव सुसलो राखियो, कीनी करुणा सार ।
श्रेणिक घर जइ अवतरयो, अगज मेघकुमार ॥ रे जीवा ॥
जिनधर्म कीजिये सदा, धर्मना चार प्रकार ।
दान शील तप भावना पाली निर-अतिचार ॥ रे जीवा० ॥

इस प्रकार अहिसा तो सदैव सुखदायिनी है । हाथी द्वारा निर्मित मडल में इतने ज्यादा जीव आ घुसे कि हाथी को पैर रखने की भी जगह न बची । ऐसे समय में हाथी को क्रोध आ सकता था या नही ? तुम्हे तो इतने में ही क्रोध आ जाता है कि दूसरा तुम्हारे आगे क्यो बैठ गया ?

इसका क्या कारण है ? क्या दयाधर्मी होने के कारण तुम्हारा पारा ऊँचा चढ जाता है ? हाथी के मडल में तो अनेक जीव आ घुसे थे और उन्होंने थोडी-सी भी जगह खाली नही रहने दी थी । एक खरगोश को कही जगह नही मिल रही थी और वह परेशान होकर कष्ट पा रहा था । इतने मे ही हाथी ने अपना शरीर खुजलाने के लिये पैर ऊपर उठाया । पैर ऊपर होते ही खाली हुई जगह मे खरगोश बैठ गया । हाथी चाहता तो खरगोश के ऊपर पैर रख सकता था और उसे मसल सकता था, पर खरगोश पर दयाभाव लाकर उसने पैर नीचा नही किया । हाथी भलीभाति समझता था कि वास्तव मे सच्चा घर वही है जहाँ किसी दु खी जीव को, थोडे समय के लिये ही सही, विश्राम मिल सकता हो । जिस घर मे आया कोई भी अतिथि दु:ख न पाये वही सच्चा घर है । हाथी को तो ऐसा उदार विचार आया, पर तुम्हे ऐसा उदार विचार आता है या नही ? नीतिशास्त्र मे कहा है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ।।

अर्थात्–जिसके घर आया हुआ अतिथि निराश होकर लौटता है, उसे अतिथि का पाप लगता है और अतिथि पाप देकर उस घर का पुण्य लेकर चला जाता है ।

हाथी सोच सकता था कि यह सब पशु मेरे मडल मे—मेरे घर मे क्यो आये हैं ? वह खरगोश पर क्रुद्ध होकर उसे कुचल भी सकता था; मगर न जाने प्रकृति की कौनसी अनूठी शिक्षा से वह बीस पहर तक एक पैर ऊँचा किये ही खडा रहा । हाथी जैसे स्थूल शरीर वाले प्राणी के लिये इतने

लम्वे समय तक एक पैर ऊपर किये खडा रहना कितना कष्टकर था ? मगर उसने ऐसा करने मे कष्ट के बदले आनन्द ही माना। इसका परिणाम यह हुआ कि वह हाथी के भव से तिर्यंच गति से निकल कर राजा श्रेणिक के घर पुत्र रूप मे पैदा हुआ और अन्त में भगवान् महावीर का अन्तेवासी (शिष्य) वना।

जव इस प्रकार का दयाभाव हृदय में प्रकट हो तो समझना चाहिए कि मुझमे सम्यक्त्व है। तुम्हे सदैव ध्यान रखना चाहिए कि हमारे मजा-मौज के खातिर कितने जीवो को किस प्रकार कष्ट पहुँच रहा है। इस बात का विचार करके धर्म-अधर्म का विवेक करो। इसी मे तुम सब का कल्याण है।

सुधर्मास्वामी ने जम्वूस्वामी से कहा– 'हे आयुष्मन् जम्वू! यह सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन मैंने भगवान् से सुना है।'

सम्यक्त्व कहो या समकित, अर्थ एक ही है। सम्यक्त्व गुणवाचक शब्द है, परन्तु गुण और गुणी के अभेद से यह पराक्रम समकिती का पराक्रम समझना चाहिए। अथवा यह मानना चाहिये कि इस अध्ययन मे समकिती का पराक्रम बतलाया गया है। शास्त्र मे कभी गुण को प्रधानता दी जाती है और कभी गुणी मुख्य होता है। परन्तु गुणी कहने से गुण का और गुण कहने से गुणी का ग्रहण हो जाता है। ससार-व्यवहार मे भी किसी का सम्वोधन करने के लिए कभी-कभी गुण का आश्रय लिया जाता है और कभी-कभी गुणी का नाम लिया जाता है। इतना ही नही वरन् जव किसी की अधिक प्रशसा करनी होती है तव गुणी के नाम का लोप करके गुण को ही प्रधा-

नता दी जाती है और गुण का ही नाम लिया जाता है। व्यवहार मे कहा जाता है—यह घी क्या है, आयु ही है। अन्न क्या है, प्राण ही है। यद्यपि घी और अन्न, आयु एव प्राण से भिन्न वस्तुएँ हैं, फिर भी यहाँ गुणी को गौण करके गुण को प्रधान पद दिया गया है। कदाचित् इन उदाहरणों में भूल भी हो सकती है परन्तु 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम के विषय में किसी प्रकार की भूल नही है। यहाँ गुणी को गौण करके गुण को प्रधानता दी गई है, यह स्पष्ट है। अतएव यहाँ समकित का अर्थ समकिती समझना चाहिए। क्योकि समकित गुण है और गुण कोई पराक्रम नही कर सकता। पराक्रम करना गुणी का ही काम है। इस कारण समकिती जो पराक्रम करे वही पराक्रम यहाँ समझना चाहिए।

सुधर्मास्वामी ने सर्वप्रथम, समुच्चय रूप मे कहा—'मैंने भगवान् से सुना है।' परन्तु इस कथन मे यह जिज्ञासा हो सकती है कि किस भगवान् से सुना है? भगवान् तो ऋषभदेव भी थे और अन्य तीर्थङ्कर भी भगवान् थे। शास्त्रो मे अनेक स्थलो पर स्थविरो को भी भगवान् कहा है और गणधर भी भगवान् कहलाते हैं। ऐसी स्थिति मे भगवान् कहने से किसे समझा जाये? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए स्पष्ट किया गया है कि 'मैंने भगवान् महावीर से यह सुना है।' भगवान् महावीर भी कैसे थे? इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है–'मैंने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार सुना है।'

श्रमण का अर्थ है–तपस्या मे पराक्रम करने वाला या समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखने वाला। सामान्य रूप से साधुओ में समभाव होता है परन्तु भगवान् महावीर

सम्पूर्ण रूप से समभाव धारण करते थे। उपसर्ग देने वाले और जहरीला डक मारने वाले पर भी उनका भाव वैसा ही था, जैसा वदना करने वालो पर था । जो आपको घोर कष्ट पहुँचा रहा है, जो आपको डक मारकर काट रहा है, उस पर भी समभाव रखना कितना अधिक कठिन है, इस बात का विचार करोगे तो यह खयाल आये विना नही रहेगा कि समभाव रखना कितना कठिन कम है ! कितनेक लोग अपना मस्तक उतार कर देना तो पसन्द करते हैं, मगर उनसे कहा जाये कि समभाव रखकर एक जगह बैठ जावो तो, उन्हे ऐसा करना कठिन जान पडता है । इसके विरुद्ध असीम शक्ति के स्वामी होते हुए भी भगवान् ने कैसी क्षमा धारण की ! वह अपने को कष्ट देने वाले का प्रतीकार कर सकते थे, चाहते तो उसे दड भी दे सकते थे, मगर उन्होने प्रतीकार करने के बदले प्रतिवोध देना ही अपना कर्त्तव्य समझा । जो भगवान् इस प्रकार समभाव की साक्षात् मूर्ति थे, उन्हे श्रमण न कहा जाये तो फिर किसे श्रमण कहा जायेगा ?

जिन्होने इस सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन की प्ररूपणा की, वह श्रमण थे, दीर्घतपस्वी थे, भगवान् थे और महावीर थे । भगवान् का 'महावीर' नाम जन्म का नही किन्तु देवो का दिया हुआ गुणनिष्पन्न नाम है । देवो ने भगवान् की अटलता, महावीरता देखकर उन्हे महावीर सज्ञा दी थी । भगवान् ने महावीर पद प्राप्त करने से पहले कितना पराक्रम किया था ? जबकि तुम कितना आलस्य करते हो ! इस पर विचार तो करो । अगर तुम भगवान् के बराबर पराक्रम नही कर सकते तो अन्तत. उनका नाम ही अपने

हृदय में स्थापित करो । इस दशा मे भी तुम्हारा कल्याण हो जायेगा । सभी लोग नदी के ऊपर पुल नहीं बँधवा सकते, फिर भी राजा द्वारा बँधवाये हुए पुल पर से जैसे हाथी जा सकता है, उसी प्रकार कीडी भी नदो पार कर सकती है। पुल के अभाव में हाथी को भी नदो पार करना कठिन हो जाता है । अतएव जैसा पराक्रम भगवान् ने किया था, वैसा पराक्रम तुम से न हो सके तो कम से कम उनका नाम तो अपने हृदय मे धारण कर ही सकते हो ।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा–ऐसे श्रवण भगवान् महावीर ने जब केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तब सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन की प्ररूपणा की और मैंने उनसे यह सुना ।

जनता के कल्याण के लिए इस अध्ययन मे भगवान् ने प्रश्न रूप मे एक-एक बात उपस्थित करके स्वय ही उस प्रश्न का उत्तर दिया है । इस प्रकार सब बातो का निर्णय किया है । अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो भगवान् की इस वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन मे स्थान दो । भगवान् की वाणी को अपने जीवन मे ताने-बाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा । भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है । इस सम्बन्ध मे भगवान् ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डाला है । भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम थे । वह मर्यादा को भग नही कर सकते थे । उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचने पावे । ठोक-पीट कर समझाने से सामने वाले को कष्ट पहुँचता है ।

प्रत्येक शब्द के अर्थगाभीर्य पर विचार किया जाये तो सूत्र-रचना शैली की गभीरता प्रतीत हुए विना नही रह सकती।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग वतलाया है, उस मार्ग पर जाने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार है। श्रद्धा का अर्थ किसी वात को नि.सदेह होकर मानना है। अमुक वात ऐसी ही है, इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई वार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है, मगर ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नही चलता। अतएव सिद्धान्त-वचनो पर हृदयपूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित् सिद्धान्त-वचनो पर प्रतीति हो जाये तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नही होता। व्यवहार मे आये विना प्रतीति मात्र से सिद्धान्तवाणी पूर्ण लाभप्रद नही होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्तवाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

एक उदाहरण से यह वात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डाक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई मगर प्रतीति नही। प्रतीति तव होगी जव उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया जाये। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण देखने से प्रतीति उत्पन्न होती है। डाक्टर निस्पृह और अनुभवी है, इस विचार से दवा पर श्रद्धा तो उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तब होती है जब उसी दवा से दूसरे का रोग मिट गया है, यह जान लिया जाये। मान

लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई तो ऐसी दशा में रोग कैसे नष्ट होगा ? रोग का नाश करने वाली दवा पर रुचि रख-कर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता है। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाये, निय-मोपनियम का पालन किया जाये और अपथ्य सेवन न किया जाये, दवा से लाभ होगा ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशसा की जाये तथा दवा सेवन करने मे किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूँढ़ कर अपनी भूल सुधार ली जाये तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता है। अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय है ?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए। महावीर भग-वान् महावैद्य के समान है, जिन्होने साढे बारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत-जीवों को जन्म-जरा-मरण आदि भाव-रोगो से मुक्त करने के लिए अहिसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज करके महावैद्य बने थे। उन महावैद्य महावीर भगवान् ने जन्म-जरा-मरण आदि भाव रोगो से पीडित जगत्-जीवो को रोगमुक्त करने के लिए यह प्रवचन रूपी अमोघ औषध का आविष्कार किया है। सबसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी, ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायेगा ? भगवान् की सिद्धान्तवाणी को सभी लोक विवेक की कसौटी पर नही कस सकते। सब लोग

ऐसी स्थिति में भगवान् किसी को जबर्दस्ती कैसे समझा सकते थे ? भगवान् अभग अहिसा का परिपालन करते थे। किसी का दिल दुखाना भी हिसा है, इसीलिए भगवान् ने किसी पर जोर-जबर्दस्ती नही की। उन्होने समुच्चय रूप में सभी को कल्याणकारी उपदेश दिया है। जिन्होने भगवान् का उपदेश माना उन्होने अपना कल्याण-साधन कर लिया। जिन्होने ऐसा नही किया, वे अपने कल्याण से वचित रह गये। कई-एक चीजे श्रेष्ठ तो होती हैं, परन्तु दूसरो को कष्ट न पहुँचाने के विचार से बलात् नही दी जा सकती। भगवान् की यह वाणी कल्याणकारिणी होने पर भी किसी को जबर्दस्ती नही समझाई जा सकती अतएव भगवान् ने समुच्चय रूप मे ही उपदेश दिया है।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा - 'मैने भगवान् महावीर से इस प्रकार सुना है।' किन्तु इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर कौन से ? इसका समाधान करने के लिए 'श्रमण विशेषण लगाया, मगर श्रमण भी अनेक प्रकार के होते है अतएव अन्य का व्यवच्छेद करने के लिए सुधर्मास्वामी ने 'कासवेण' विशेषण लगाया है। अर्थात् काश्यपगोत्र वाले श्रमण भगवान् महावीर से मैने सुना है। भगवान् के पूर्वजो मे कोई कश्यप नामक व्यक्ति प्रधान हुआ होगा और सभवत इसी कारण उन्हे काश्यपगोत्रीय कहा गया है।

सुधर्मास्वामी इस प्रकार सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन के प्ररूपक श्रमण भगवान् महावीर का परिचय देने के बाद इस अध्ययन का माहात्मय बतलाते हुए आगे कहते हैं.—

'इह खलु **सम्मत्तपरिक्कमे नाम अज्झयणे समणेण**

भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइयं, ज सम्मं सद्दहित्ता, पत्तइत्ता, रोयइत्ता, फासित्ता, तीरित्ता, कित्तइत्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, सव्वदुक्खाणमन्तं करेन्ति ।'

हे जम्बू ! काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक जो अध्ययन प्ररूपण किया है, वह इतना महत्वपूर्ण है कि इस पर सम्यक् श्रद्धा करके, प्रतीति करके, रुचि करके, इसका स्पर्श करके, पार करके, कीर्ति करके, सशुद्धि करके, आराधना करके और आज्ञापूर्वक अनुपालन करके अनेक जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करते है और सब दु खो का अन्त करते हैं। सुधर्मास्वामी ने इस प्रकार कहकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का महामार्ग इस सूत्रपाठ मे प्रदर्शित किया है ।

इस सूत्रपाठ मे जगत् के जीवो को धर्म का बोध देने की जो शैली स्वीकार की गई है वह कितनी सरल, अर्थयुक्त और प्रभावशालिनी है ! इसका ठीक रहस्य वही समझ सकता है जो सूत्रपारगामी हो । ऊपरी दृष्टि से देखने वाले को इस सूत्रशैली में पुनरुक्ति दिखाई देती है, पर इस पुनरुक्ति मे क्या उद्देश्य छिपा हुआ है और पुनरुक्त प्रतीत होने वाले शब्दो से कितनी सार्थकता एव अर्थगभीरता है, इस विषय का गहरा विचार किया जाये तो मन की शका का समाधान हो जायेगा, अनेक अपूर्व बाते जानने को मिलेंगी और सूत्ररचना-शैली पर अधिक आदरभाव उत्पन्न होगा । मगर आज सूत्ररचना के सम्बन्ध मे गहरे उतर कर नही वरन् ऊपरी दृष्टि से ही विचार किया जाता है । अगर

प्रत्येक शब्द के अर्थगाभीर्य पर विचार किया जाये तो सूत्र-रचना शैली की गभीरता प्रतीत हुए विना नही रह सकती।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने का जो महामार्ग बतलाया है, उस मार्ग पर जाने के लिए श्रद्धा प्रवेशद्वार है। श्रद्धा का अर्थ किसी बात को निःसदेह होकर मानना है। अमुक बात ऐसी ही है, इस प्रकार समझना श्रद्धा है। कई बार ऊपर से श्रद्धा प्रकट की जाती है, मगर ऊपरी श्रद्धा मात्र से कुछ काम नही चलता। अतएव सिद्धान्त-वचनो पर हृदयपूर्वक विश्वास करना चाहिए और प्रतीति भी करनी चाहिए। कदाचित् सिद्धान्त-वचनो पर प्रतीति हो जाये तो भी कोरी प्रतीति से कुछ विशेष लाभ नही होता। व्यवहार मे आये बिना प्रतीति मात्र से सिद्धान्तवाणी पूर्ण लाभप्रद नही होती। अतएव प्रतीति के साथ ही सिद्धान्तवाणी के प्रति रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए अर्थात् उसके अनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही भगवान् की वाणी से पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा। मान लीजिये, एक रोगी डाक्टर से कहता है कि तुम्हारी दवा पर मुझे विश्वास है। यह श्रद्धा तो हुई मगर प्रतीति नही। प्रतीति तब होगी जब उस दवा से किसी का रोग मिट गया है, यह देख लिया जाये। इस प्रकार दूसरे का उदाहरण देखने से प्रतीति उत्पन्न होती है। डाक्टर निस्पृह और अनुभवी है, इस विचार से दवा पर श्रद्धा तो उत्पन्न हो जाती है, मगर प्रतीति तब होती है जब उसी दवा से दूसरे का रोग मिट गया है, यह जान लिया जाये। मान

लीजिए, दवाई पर प्रतीति भी हो गई, मगर कटुक होने के कारण दवा पीने की रुचि न हुई तो ऐसी दशा मे रोग कैसे नष्ट होगा ? रोग का नाश करने वाली दवा पर रुचि रख-कर उसका नियमित रूप से सेवन करने पर ही रोग नष्ट हो सकता है। रुचिपूर्वक दवा का सेवन किया जाये, नियमोपनियम का पालन किया जाये और अपथ्य सेवन न किया जाये, दवा से लाभ होगा ऐसा समझ कर हृदय से दवा की प्रशसा की जाये तथा दवा सेवन करने मे किसी प्रकार की भूल हुई हो तो डाक्टर का दोष न ढूँढ कर अपनी भूल सुधार ली जाये तो अवश्य रोग से छुटकारा हो सकता है। *अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय है ?*

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान् महावीर की वाणी के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हैं, जिन्होने साढे बारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत-जीवो को जन्म-जरा-मरण आदि भाव-रोगो से मुक्त करने के लिए अहिसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज करके महावैद्य बने थे। उन महावैद्य महावीर भगवान् ने जन्म-जरा-मरण आदि भाव रोगो से पीडित जगत्-जीवो को रोगमुक्त करने के लिए यह प्रवचन रूपी अमोघ औषध का आविष्कार किया है। सबसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी, ज्ञानी भगवान् की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायेगा ? भगवान् की सिद्धान्तवाणी को सभी लोक विवेक की कसौटी पर नही कस सकते। सब लोग

नही समझ सकते कि भगवान् की वाणी मे क्या माहात्म्य है ? अतएव साधारण जनता के लिये एक मात्र लाभप्रद बात यही है कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करें। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी; तब तक लाभ भी नही हो सकता। इस कारण श्रद्धा को सब से अधिक महत्व दिया गया है। गीता मे भी कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात्—पुरुष श्रद्धामय है—श्रद्धा का ही पुज है और जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार से भी सिद्ध होती है। दर्जी के काम की श्रद्धा रखने वाला दर्जी बन जाता है और जो लुहार का काम करने की श्रद्धा रखता है वह लुहार बन जाता है। साधारण रूप से सिलाई का काम तो सभी कर लेते है परन्तु इस प्रकार का काम करने से कोई दर्जी नही बन जाता और न कोई अपने आपको दर्जी मानता ही है। इसका कारण यह है कि सिलाई का काम करते हुए भी हृदय मे उस काम की श्रद्धा नही है अर्थात् वह काम श्रद्धानपूर्वक नही किया जाता। अगर वही सीने का काम श्रद्धानपूर्वक किया जाये तो दर्जी बन जाने मे कोई सदेह नही किया जा सकता।

कहने का आशय यह है कि सर्वप्रथम भगवान्‌रूपी महावैद्य की वाणीरूपी दवा पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता है। सिद्धान्तवाणी के विरुद्ध विचार नही होना चाहिए और साथ ही वाणी के ऊपर प्रतीति-विश्वास होना चाहिए। इस सिद्धान्तवाणी के प्रभाव से पापियो का भी कल्याण हो सकता है, ऐसा विश्वास दृढ होना चाहिए। भगवत्‌वाणी

के अमोघ प्रभाव से अर्जुन माली और चडकौशिक साँप आदि पापी जीवों के कर्म-रोगो का नाश हुआ है। भगवान् की वाणी पर प्रतीति-विश्वास करने के बाद रुचि भी होनी चाहिए। कोई कह सकता है कि भगवान् की वाणी द्वारा अनेक पापी जीवो के पापो का क्षय हुआ है, यह तो ठीक है किन्तु उस वाणी पर रुचि लाना अर्थात् उसे जीवन-व्यवहार मे उतारना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मगर यदि भगवान् की वाणी पर रुचि उत्पन्न नही हो तो समझना चाहिये कि अभी तक श्रद्धा और विश्वास मे न्यूनता है। जो रोगी भय के कारण औषध का सेवन ही नही करता, उसका रोग किस प्रकार मिट सकता है ? सासारिक जीव भगवान् की वाणी को जीवनव्यवहार मे न लाने के कारण ही कष्ट भोग रहे है। यो तो अनादिकाल से ही जीव उन्मार्ग पर चलकर दुख भुगत रहे हैं, मगर उनसे कहा जाये कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन कर लो तो सदा के लिये दुख से छूट जाओगे तो वे ऐसा करने को तैयार नही होते और इसी कारण वाणीरूपी औषध की विद्यमानता मे भी वे कर्मरोगो से पीडित हो रहे हैं।

भगवान् की वाणीरूपी दवा पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करने के अनन्तर उसकी स्पर्शना भी करनी चाहिए। अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्तवाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने मे ही उनका उपयोग करना चाहिए। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भगवद्वाणी को जितने अश मे स्वीकार किया हो उतने अश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढते हुए भगवद्वाणी के पार पहुँचना चाहिए।

आज बहुत-से लोग आरम्भशूर दिखाई देते है। लोग किसी कार्य को प्रारम्भ तो कर देते है किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोड बैठते हैं। ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नही कर सकते। महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ मे लेते ही नही है और जिस काम मे हाथ डालते है उसे भयकर से भयकर कष्ट आने पर भी अधूरा नही छोडते।

इस प्रकार सिद्धान्तवाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारगत होना चाहिए और फिर 'यह वाणी जैसी कही जाती है वैसी ही है। मैं इस वाणी का पालन करके पार नही पहुंच सकता था किन्तु भगवान् की कृपा से पार पहुंचा हू' इस प्रकार कहकर भगवद्‌वाणी का सकीर्तन करना चाहिये। भगवद्‌वाणी को आचरण मे उतारते किसी प्रकार का दोष हुआ हो तो उसका सशोधन करना चाहिए, किन्तु दूसरे पर दोषारोपण नही करना चाहिए। तत्पश्चात 'आज्ञा गुरूणा खलु धारणीया' इस कथन के अनुसार गुरुओ की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर भगवान् की वाणी का आज्ञानुसार पालन करना चाहिए।

इस प्रकार इस सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शना करने से उसका पालन करने से, पार पहुँचने से, सकीर्तन करने से, सशोधन करने से, आराधना करने से और आज्ञानुसार अनुपालन करने से अनेक जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, होते है और होगे तथा सब दुःखो का अन्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए है, होते है और होगे।

सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से इस प्रकार कहा, परन्तु

न यहाँ सुधर्मास्वामी हैं, न जम्बूस्वामी ही है। यहाँ तो हम लोग हैं। अगर हम लोग सब दु:खो से मुक्त होना और परम शान्ति प्राप्त करना चाहते है तो सुधर्मास्वामी ने हम लोगो के कल्याण के हेतु भगवान् से सुने हुए जो वचन कहे है, उन्हे हृदय मे धारण करके पालन करना चाहिए।

अपनी बौद्धिक दृष्टि से देखने पर इस शास्त्र के कोई-कोई वचन समझ मे न आये यह सभव है, परन्तु शास्त्र के वचन अभ्रान्त हैं। इसलिए इन सिद्धान्त-वचनो पर दृढ विश्वास रखकर उनका पालन किया जाये तो अवश्य ही कल्याण होगा। कहा जा सकता है हमारे पीछे दुनियादारी की अनेक झझटे लगी हैं और इस स्थिति मे भगवान् के इन वचनो का पालन किस प्रकार किया जाये ? ऐसा कहने वालो को सोचना चाहिए कि भगवान् क्या उन झझटों को नही जानते थे ? इस पचमकाल को और इसमें उत्पन्न होने वाले दु:खो को भगवान् भलीभाँति जानते थे और इसी कारण उन्होने दु ख से मुक्त होने के उपाय बतलाये हैं। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम मे नही लाता और सिद्धान्त-वचनो पर श्रद्धा नही करता तो वह दु:खो से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ?

हम लोग कई वार सुनते है कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषो ने विविध प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, परन्तु वह महापुरुष कभी ऐसा विचार तक नही करते कि सत्य के कारण यह कष्ट सहने पडते हैं तो हमे सत्य का त्याग कर देना चाहिए। महापुरुषो का यह आदर्श अपने समक्ष होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करे तो यह हमारी कितनी बडी अपूर्णता कहलाएगी ? अतएव भग-

वान् की वाणी को अभ्रान्त समझकर उस पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि करो और विचार करो कि भगवान् का हमारे ऊपर कितना करुणाभाव है कि उन्होने हमारे कल्याण के लिए यह वचन कहे हैं। भगवान् अपना निज का कल्याण तो बोले विना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए ही उन्होने यह सिद्धान्तवाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर हमे विश्वास करना ही चाहिए।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है मगर ससार मे चमत्कार के बिना नमस्कार नही देखा जाता। अतएव हमे कोई चमत्कार दिखाई देना चाहिए। इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि शास्त्रीय चमत्कार बतलाया जाये तो उपदेश ही है और अगर व्यावहारिक चमत्कार बतलाया जाये तो वह भी तभी माना जायेगा जबकि वह बुद्धि मे उतर सके। अगर बुद्धि मे न उतरा तो वह भी अमान्य ही ठहरेगा। यह बुद्धिवाद का जमाना है। यह जमाना विचित्र है। जो लोग शास्त्र सुनने आते हैं उनमे से भी कुछ लोग ही सचमुच शास्त्र सुनने आते है और कुछ लोग यह सोचकर आते हैं कि वहाँ जाने से हमारे अवगुण दब जाएँगे और हमारी गणना धर्मात्माओ मे होने लगेगी। यह बात इस खोटे जमाने से ही नही वरन् भगवान् महावीर के समय से ही चली आती है। भगवान् के समवसरण मे आने वाले देवो मे भी कितनेक देव भगवान् के दर्शन करने आते थे और कितने ही देव दूसरे अभिप्राय से आया करते थे। दूसरे अभिप्राय से आने वाले देवो में कुछ देव तो इसलिए आते थे कि भगवान् के पास जाकर अपनी शकाओं का समाधान कर लेगे, कुछ देव अपने मित्रो का साथ देने

के लिए आने थे और कुछ देव भगवान् के पास जाना अपना जिताचार-आचार-परम्परा समझ कर आते थे। इस प्रकार भगवान् के समय मे भी ऐसी घटनाएँ हुआ करती थी।

यह हुई परोक्ष की बात। प्रत्यक्ष मे भी व्याख्यान मे आने वाले लोग भिन्न-भिन्न विचार लेकर आते है। लोग किसी भी विचार से क्यो न आवे, अगर भगवान् की वाणी का एक भी शब्द उनके हृदय को स्पर्श करेगा तो उनका कल्याण ही होगा। भगवान् की वाणी का चमत्कार ही ऐसा है। पर विचारणीय तो यह है कि जब आये ही हो तो फिर शुद्ध भाव ही क्यो नही रखते? अगर शुद्ध भाव रखोगे तो तुम्हारा आना शुद्ध खाते में लिखा जायेगा। कदाचित् शुद्ध भाव न रखे तो तुम्हारा आना अशुद्ध खाते मे लिखा जायेगा। तो फिर यहाँ आकर अशुद्ध खाते मे अपना नाम क्यो लिखाना चाहते हो? इसके अतिरिक्त भगवान् की वाणी सुनकर वह हृदय मे धारण न की गई तो भगवान् की वाणी की आसातना ही होगी। अतएव भगवान् की वाणी हृदय मे धारण करो और विचार करो कि मनुष्य अपना मुख आप ही नही देख सकता, इस कारण उसे आदर्श-दर्पण की सहायता लेनी पडती है। भगवान् की वाणी दर्पण के समान है। मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर उसे धो सकता है उसी प्रकार भगवान् की वाणी के दर्पण मे अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हे धो डालो। भगवान् की वाणी का यही चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है। अगर तुम अवगुण दूर करके गुणग्रहण की विवेकबुद्धि रखोगे तो भगवान् की वाणी का चमत्कार तुम्हे अवश्य दिखाई देगा।

इसलिए भगवान् की वाणी पर दृढ विश्वास रखकर उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

शास्त्र मे कही-कही इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है कि जैसे भगवान् से प्रश्न किये गये हो और भगवान् ने उनका उत्तर दिया हो और कही-कही ऐसा है कि भगवान् स्वय ही फरमा रहे हो। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि भगवान् ने जो बात अपने ज्ञान मे देखी है वही बात कही है और यह बात उन्होंने कभी-कभी बिना पूछे भी कही है। मगर जो बात उन्होंने अपने ज्ञान मे नही देखी वह पूछने पर भी नही कही।

उत्तराध्ययन के विषय में कहा जाता है कि यह भगवान् की अन्तिम वाणी है। अतः इस वाणी का महत्व समझकर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचिपूर्वक हृदय मे उसे उतारा जाये तो अवश्य आत्मा का कल्याण होगा। भगवान् की इस वाणी को हृदय मे उतारने के लिए श्रद्धा, प्रतीति और रुचि समान होनी चाहिए और व्यवहार भी वैसा ही होना चाहिए अर्थात् जैसा विचार हो वैसा ही उच्चार भी हो और जैसा उच्चार हो वैसा ही आचार हो। विचार, उच्चार और आचार मे तनिक भी विषमता नही होनी चाहिए। विषमता होना एक प्रकार की कुटिलता है और कुटिलता से भगवान् की वाणी द्वारा लाभ नही उठाया जा सकता। भगवान् की यह वाणी जिस रूप मे समझी जाये उसी रूप मे कही जाये और व्यवहार मे लाई जाये तो उसके द्वारा अनेक जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते है और होगे। शास्त्र में अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि भगवान् की वाणी से अनेक पुरुष कषाय एव दुःखरूपी अग्नि को सदा के लिए उपशात कर सके है।

भगवान् की वाणी द्वारा एक बार जिन दु.खो का अन्त किया जाता है, वे दु ख फिर कभी नही सताते। भव्य जीव भगवान् की इस वाणी द्वारा दुःख-कषाय की अग्नि को तथा भवाकुर को समूल नष्ट कर डालते हैं।

सामान्य रूप से कहा गया है कि इस अध्ययन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि धारण करने से कल्याण होता है, किन्तु अब यह विचार करना है कि इस अध्ययन मे क्या कथन किया गया है? इसके पश्चात् अध्ययन मे कही प्रत्येक बात के विषय मे पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

सुधर्मास्वामी सम्यक्त्वपराक्रम का अधिकार बतलाते हुए जम्बूस्वामी से इस प्रकार कहते हैं।

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तंजहा—

(१) सवेगे (२) निव्वेए (३) धम्मसद्धा (४) गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया (५) आलोयणया (६) निदणया (७) गरहणया (८) समाइए (९) चउवीसत्थए (१०) वदणे (११) पडिक्कमणे (१२) काउसग्गे (१३) पच्चक्खाणे (१४) थवथुइमगले (१५) कालपडिलेहणया (१६) पायच्छित्तकरणे (१७) खमावयणे (१८) सज्झाए (१९) वायणया (२०) पडिपुच्छणया (२१) पडियट्टणया (२२) अणुप्पेहा (२३) धम्मकहा (२४) सुभस्स आराहणया (२५) एगग्गमणसनिवेसणया (२६) सजमे (२७) तवे (२८) वोदाणे (२९) सुहसाए (३०) अप्पडिबद्धया (३१) विवित्तसयणासणसेवणया (३२) विणियट्टणया (३३) सभोगपच्चक्खाणे (३४) उवहिपच्चक्खाणे (३५) आहारपच्चक्खाणे (३६) कसायपच्चक्खाणे (३७) जोगपच्चक्खाणे (३८) सरीरपच्चक्खाणे

(३९) सहायपच्चक्खाणे (४०) भत्तपच्चक्खाणे (४१) सब्भावपच्चक्खाणे (४२) पडिरूवणया (४३) वेयावच्चे (४४) सव्वगुणसपुण्णया (४५) वीयरागया (४६) खन्ती (४७) मुत्ती (४८) मद्दवे (४९) अज्जवे (५०) भावसच्चे (५१) करणसच्चे (५२) जोगसच्चे (५३) मणगुत्तया (५४) वयगुत्तया (५५) कायगुत्तया (५६) मणसमाधारणया (५७) वयसमाधारणया (५८) कायसमाधारणया (५९) नाणसपन्नया (६०) दसणसपन्नया (६१) चरित्तसपन्नया (६२) सोइदियनिग्गहे (६३) चक्खिदियनिग्गहे (६४) घाणिदियनिग्गहे (६५) जिब्भिदियनिग्गहे (६६) फासिदियनिग्गहे (६७) कोहविजए (६८) माणविजए (६९) मायाविजए (७०) लोहविजए (७१) पेज्जदोसमिच्छादसणविजए (७२) सेलेसी (७३) अकम्मया ।

इस सूत्रपाठ में भगवान् ने स्वयं सम्यक्त्वपराक्रम के संवेग से लेकर अकर्म तक ७३ बोल कहे है। इन ७३ बोलो मे सभी तत्त्वो का निष्कर्ष निकाला गया है।

उपर्युक्त सूत्रपाठ मे ७३ बोलो के नाम दिये गये है और आगे चलकर इनके विषय मे प्रश्नोत्तर के रूप मे स्फुट विचार किया गया है। यद्यपि इस सूत्रपाठ में पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु जैसे कोई माता अपने बालक को ठीक-ठीक समझाने के लिये पुनरुक्ति का विचार नही करती, उसी प्रकार शास्त्र मे भी बाल-जीवो को तत्त्वविचार समझाने के लिये पुनरुक्ति का विचार नही किया गया है और प्रत्येक बोल की प्रश्नोत्तर रूप मे चर्चा की गई है।



पहला बोल

संवेग

प्रश्न–संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर–सवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, धम्मसद्धाए संवेग हव्वमागच्छइ, अणन्ताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ, नव्व च कम्मं न बधइ, तप्पच्चय च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दसणाराहए भवइ, दसणविसुद्धाए णं अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, सोहीए णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहण नाइक्कमइ ॥१॥

यह पहला बोल है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि हे भदन्त ! आपने सवेग को आत्मकल्याण का साधन बतलाया है, मगर सवेग क्या है और सवेग से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा - सवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही सवेग उत्पन्न होता है, जीव अनतानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है, नवीन कर्म नही बाँधता और तत्कारणक मिथ्यात्व की विशुद्धि करके सम्यग्दर्शन का आराधक बन जाता है। दर्शनविशुद्धि से कोई-कोई जीव उसी भव से सिद्ध हो जाता है। कोई उस विशुद्धता से तीसरे

भव को उल्लघन नही करता–दर्शनविशुद्धि की वृद्धि होने पर तीसरे भव मे सिद्धि मिलती ही है ।

ऊपर के सूत्रपाठ पर विचार करते हुए देखना चाहिए कि सवेग का अर्थ क्या है ? 'सवेग शब्द के सम्+वेग इस प्रकार दो भाग होते है, व्युत्पत्ति के लिहाज से सम्यक् प्रकार का वेग सवेग कहलाता है । हाथी, घोडा, मनुष्य, मोटर वगैरह सभी मे वेग होता है, मगर वेग-वेग मे अन्तर है । कोई वेग गड्ढे मे ले जाकर गिराने वाला होता है और कोई अभीष्ट स्थान पर पहुँचने वाला । जो वेग आत्मा को कल्याण के मार्ग पर ले जाता है वही वेग यहाँ अपेक्षित है । भगवान् तो कल्याण की बात ही कहते है । भगवान् सबको सबोधन करके कहते हैं 'हे जगत् के जीवो ! तुम लोग दु ख चाहते हो या सुख की अभिलाषा करते हो ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कौन कहेगा कि हम दु.ख मे पड़ना चाहते है ? सभी जीव सुख के अभिलाषी हैं। तब भगवान् कहते है—अगर तुम सुख चाहते हो तो आगे बढो, पीछे मत हटो । सुख चाहते हो तो पीछे क्यो हटते हो ? सवेग बढ़ाए जाओ और आगे बढते चलो ।

इस समय तुम्हारी बुद्धि का, मन का तथा इन्द्रियो का वेग किस ओर बह रहा है ? अगर वह वेग तुम्हे दु.ख की ओर घसीटे लिए जाता हो तो इसे रोक दो और आत्मा के सुख की ओर मोड दो । अधोमुखी वेग को रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाओ । यदि वेग सम्यक् प्रकार बढाया जाये तो ही सुख प्राप्त किया जा सकता है । सवेग की सहायता बिना आगे कुछ भी नही किया जा सकता । इसलिए सर्व-प्रथम तो यह निश्चय कर लो कि तुम्हे सुखी बनना है या

दु.खी ? अगर सुखी बनना है तो क्या दुःख के मार्ग पर चलना उचित है ? मान लीलिये एक आदमी दूसरे गाँव जाने के लिए रवाना हुआ । रास्ते मे उसे दूसरा आदमी मिला । उसने पूछा–भाई, तुम कहा जाते हो ? देखो, इस मार्ग में बाघ का भय है, इसलिये इधर से मत जाओ । ऐसा कहने वाला मनुष्य अगर विश्वसनीय होगा और जाने वाला अगर दु.ख में नही पडना चाहता होगा तो वह निषिद्ध मार्ग मे आगे बढेगा ? नही ! ऐसा होने पर भी अगर कोई उस मार्ग पर चलता है तो उसके विषय मे यही कहा जायेगा कि वह दुःख का अभिलाषी है–सुख का अभिलाषी नही है।

उदयपुर मे एक मुसलमान भाई कोठारीजी (श्री बलवन्तसिहजी) के साथ व्याख्यान सुनने आया था । पहले तो ऐसा मालूम होता था कि वह धर्म-विषयक बात करने में डरता है, मगर कोठारीजी के साथ व्याख्यान मे आ पहुँचा और सयोगवश उस दिन उसके हृदय की शका का समाधान हो गया । यद्यपि मैंने उसे लक्ष्य करके व्याख्यान में कोई बात नही कही थी, फिर भी सहज भाव से व्याख्यान मे ऐसी बात का प्रसग आ गया कि उसकी शका का समाधान हो गया । उस समय मृगापत्र का प्रकरण चलता था । मृगापुत्र के प्रकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि–माताजी ! कितनेक लोग परलोक के विषय मे कहते हैं कि स्वर्ग, नरक आदि किसने देखे हैं ? कौन वहाँ जाकर आया है ! परन्तु–

अद्धाणं जो महत तु, अप्पाहिज्जो पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाए पीडिओ ।।

एव धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, बाहीरोगेहिं पीडिओ ॥
अद्धाण जो महत तु, सप्पाहिज्जो पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
एवं धम्मं पि काऊण, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होई, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

—उ० सूत्र १६ अ० १८-२१ गा०

माता ! मान लो कि एक बड़ा और भयकर जगल है । उसमे व्याघ्र और साप वगैरह का बहुत भय है और वहाँ चोर तथा लुटेरे भी हैं । उस जगल का मार्ग भी कटीला है । रास्ते मे खाने-पीने की भी व्यवस्था नही है । उस जगल के मार्ग पर एक आदमी खडा है और जाने वाले से कहता है कि इस जगल मे कहाँ जाते हो ? यह बडा ही विकट और भयानक है । इसमे अनेक प्रकार की दिक्कते है । फिर भी अगर इस मार्ग से जाना ही है तो मेरे कथनानुसार चलना । मैं इस जगल मे गया हू और जानता हू कि इस जगली रास्ते मे कितनी कठिनाइयाँ और दिक्कतें हैं । मै तुम्हे ऐसा साहित्य देता हू कि जिससे कदाचित् तुम उलटे रास्ते चले गये तो भी यह जान सकोगे कि खाना-पीना कहाँ मिलेगा ? मेरा दिया साहित्य अपने पास रखोगे तो तुम्हे रास्ते मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होगी और सकुशल जगल के उस पार पहुँच जाओगे । जब एक मनुष्य ने ऐसा कहा तो उसी समय वहाँ खडा हुआ दूसरा मनुष्य कहने लगा—जगल का यह रास्ता 'कठिन, कँटीला और कष्टकर है,' यह किसने देखा है ! यह झूठमूठ ही डरा रहा है । मै कहता हू कि इस मार्ग मे कोई कठिनाई नही

है। तुम आनन्दपूर्वक जाओ और इसके दिये साहित्य को भी मत ले जाओ।

माता! अब वह पथिक किसकी बात मानेगा?

मृगापुत्र की माता क्षत्रियाणी और विचक्षण थी। उसने मृगापुत्र के प्रश्न के उत्तर में कहा—हे पुत्र! पहला मनुष्य भी जंगल मे जाने का एकान्त निषेध नही करता। वह केवल यही कहता है कि अगर तुम जगल के रास्ते जाना चाहते हो तो हमारा साहित्य लेते जाओ, जिससे रास्ते मे कठिनाई न हो। वह जो साहित्य देता है उसके बदले में कुछ माँगता भी नही है। दूसरा मनुष्य कहता है कि जगल का रास्ता खराब नही है अतएव जाओ और साथ मे साहित्य मत ले जाओ। कदाचित् दूसरे आदमी का ही कहना सही हो तो भी पहले आदमी का दिया साहित्य साथ ले जाने मे हर्ज ही क्या है।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सभी लोग समझ सकते है। मगर यह भी समझो कि परलोक का मार्ग कैसा कठिन है और वहाँ कौन सहायक है? परलोक के मार्ग में भी उदाहरण मे कहे हुए दो मनुष्य खडे हैं। उनमे एक भगवान् महावीर हैं या उनके समान अन्य कोई हैं और दूसरा कोई अन्य मत वाला मनुष्य है। यह अन्य मत वाला कहता है—खाओ पीओ मजे उडाओ। धर्म-कर्म और स्वर्ग-नरक किसने देखा है? विघ्नसतोषी मनुष्य के इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर या उनके समान मान्यता वाला कहता है—परलोक के मार्ग मे बहुत कठिनाइयाँ हैं, बडे कष्ट है। उस मार्ग मे रोग-दु.ख वगैरह बहुत-से काँटे बिखरे है, इसलिए

हे पथिक ! तू मेरा यह साहित्य लेता जा, इससे तुझे पर-लोक के मार्ग मे कठिनाई नही पडेगी ।

अब तुम अपनी विवेक-बुद्धि से विचार करो कि दोनो मे से किसकी बात माननी चाहिए ? भगवान् महावीर जो कहते है वह क्या स्वार्थबुद्धि से कहते है ? अगर नही, तो उनके कथनानुसार आचरण करने मे तुम्हारी क्या हानि है ? वे कहते है-तुझे परलोक जाना है, इसलिए मेरे बतलाए सद्गुण अगर धारण कर लेगा तो तेरा परलोक का मार्ग सुगम हो जायेगा । तुझे सद्गुण धारण करने मे क्या विरोध है ? सत्य, प्रामाणिकता, दया, नीति आदि सद्गुण धारण करने से तेरा क्या बिगड जायेगा ? इन सद्गुणो के कारण इस लोक मे सुख प्राप्त होता है और जिन सद्गुणो से इस लोक मे सुख होता है, वे परलोक मे सुखदायक क्यो नही होगे ? सद्गुणो के पाथेय (भाता) बिना परलोक का पथ बडा ही कठिन मालूम होगा । अतएव परलोक के पथ पर प्रयाण करने से पहले भगवान् महावीर सद्गुणो के जिस पाथेय को साथ लेने की सलाह देते हैं, उसे शिरोधार्य करके पहले से ही धर्म का भाता तैयार कर लेना चाहिए । भग-वान् ने तो राजपाट का त्याग करके त्यागमय जीवन स्वीकार किया था, अतएव लोगो से कुछ लेने के लिए या किसी अन्य स्वार्थभावना से तो उन्होने ऐसा उपदेश दिया नही है, फिर उनकी बात मान लेने मे क्या बाधा है ?

उस मुसलमान भाई को परलोक सम्बन्धी भ्रमणा इस शास्त्रीय-सिद्धान्त से दूर हो गई । भगवान् महावीर क्या कहते है, तुम भी इस बात पर बराबर विचार करो और अगर उनकी बात सत्य प्रतीत हो तो उसे जीवन में उतारो ।

भगवान् कहते हैं परलोक में कष्ट न हो, इसके लिए संवेग बढाओ। सवेग किस प्रकार बढाया जा सकता है और उसे बढाने के लिए क्या करना चाहिए, इस विषय मे एक महात्मा ने कहा है-

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रधाने,
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने,
सवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः॥

अर्थात्-अहिंसाप्रधान सत्य धर्म पर, राग, द्वेष, मोह आदि विकारो से रहित देव पर और सब प्रकार के परिग्रह से रहित साधु पर निश्चल अनुराग रखना सवेग है।

इस कथन से स्पष्ट है कि सवेग बढाने के लिए सब से पहले धम के प्रति अनुराग बढाना आवश्यक है। लेकिन आजकल तो धर्म के नाम पर बहुत ठगी चल रही है और यह भी कहा जाता है कि कुछ ठगी के उपाय भी धर्म मे छिपे हुए हैं। इस प्रकार धर्म के विषय मे बहुत से लोग भ्रम मे पड़े हुए हैं। धर्म के नाम पर कुछ लोग ठगे भी गये हैं। इसी कारण कुछ लोग धर्म से दूर रहना चाहते है जिससे कि ठगाई से बच सकें। धर्म के नाम पर ठगाई करने वाला व्यक्ति जिस धर्म का अनुयायी होता है अथवा जिस धर्म के नाम पर ठगाई करता है, उस धर्म को लोग वैसा ही समझने लगते हैं। अगर कोई मुंहपत्ती बाध कर पाप करता है तो यही समझा जाता है कि मुंहपत्ती बाँधने वाले ऐसा ही करते हैं। इस तरह ठगो की करतूत से धर्म भी बदनाम होता है। कवि तुलसीदासजी ने धर्म के नाम पर ठगने वालो का अच्छा चित्र खीचा है—

जे जन्मे कलिकाल कराला, करतब वायस वेष मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के, किंकर कंचन कोह काम के॥

जो मनुष्य हस का वेप धारण करके कौवे के समान कुत्सित काम करता है, उसके समान नीच दूसरा कौन हो सकता है। इसी प्रकार राम या अर्हन्त का वेष धारण करके पापाचरण करने वाले के समान और कोई नीच नही हो सकता। कवि तुलसीदास कहते है कि इस कलियुग मे जन्मे हुए ऐसे लोग हस का वेप धारण करके काक के समान नीच काम करते है। वे परमात्मा के सेवक और भक्त कहला कर भी वास्तव मे कचन, क्रोध, और काम के सेवक हैं।

ऐसे धर्मढोगी लोगो के आचरण की बदौलत ही धर्म बदनाम हुआ है और लोगो को धर्म के प्रति घृणा हुई है। किन्तु ज्ञानी जन ऐसे धर्मढोगी लोगो का व्यवहार देखकर घबराते नही हैं। वे धर्म के लक्षणो से ही धर्म की परीक्षा करते है।

सीता भी धर्म के नाम पर ठगी गई थी। रावण सीता को अन्य उपायो से ठगने मे समर्थ न हुआ तो उसने धर्म का आश्रय लिया। वह स्वय साधु का वेष धारण करके सीता को ठग कर ले गया। रावण ने इस प्रकार धर्म के नाम पर ठगाई की मगर धर्म अपने नाम पर ठगने वालो को नष्ट कर देता है। इस नियम के अनुसार रावण का भी नाश हो गया। रावण का नाश धर्म के नाम पर ठगाई करने से ही हुआ था। मगर धर्म के नाम पर ठगी जाने पर भी सीता ने धर्म का त्याग न किया था। धर्म के नाम पर कोई अपनी स्वार्थभावना भले ही पुष्ट करना चाहे परन्तु आखिर धर्म की जय और पाप का क्षय हुए बिना नही

रहता । अन्त मे सीता के धर्म की जय हुई और रावण का पाप के कारण क्षय हुआ ।

कहने का आशय यह है कि सवेग को बढाने के लिए धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए । अनुत्तर धर्म के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है । मगर अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किस प्रकार के धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानी जन बतलाते हैं कि जिस धर्म मे हिंसा का सर्वथा निषेध किया गया है ऐसे अहिंसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग रखना चाहिए । अहिंसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है । सवेग की वृद्धि के लिए स्वार्थ का त्याग करना पड़ता है । स्वार्थ का त्याग करके अहिंसाप्रधान धर्म के प्रति अनुराग धारण किया जाये तो सवेग जीवन मे मूर्त रूप धारण कर लेता है ।

धर्म-अनुराग के साथ ही साथ राग, द्वेष और मोह आदि से रहित वीतराग देव के प्रति भी अनुराग रखना चाहिए । तुम्हारे देव भी वीतराग हैं और तुम्हारा धर्म भी वीतरागता का ही आदर्श उपस्थित करता है । अतएव जहाँ वीतरागता का दर्शन करो वहाँ अनुराग धारण करो ।

वीतराग देव और वीतराग धर्म का भान कराने वाले निर्ग्रन्थ गुरु ही हैं । देव और धर्म की परख करने की कसौटी अगर ठीक हुई तो देव और धर्म की सत्यता-असत्यता का ठीक निर्णय हो सकता है । अगर कसौटी ही ठीक नही हुई हो तो इस दशा मे देव और धर्म का निर्णय भी नही हो सकता । देव और धर्म की परख करने की कसौटी गुरु ही है । गुरु अगर निर्ग्रन्थ हुए अर्थात् उन्हे किसी

भी वस्तु के प्रति ममत्व न हुआ तो वही गुरु सच्चे देव और सच्चे धर्म का परिचय करा सकते हैं। अतएव निर्ग्रन्थ गुरु को ही गुरु मानना चाहिए।

इस प्रकार वीतराग देव, वीतराग धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति अनुराग रखने से सवेग की वृद्धि होती है। जो भव्य मोक्ष प्राप्त करने की भावना रखेगा और जो ससार की आग से बचना चाहेगा वही ऐसे देव, गुरु और धर्म का शरण गहेगा और अपनी आत्मा का कल्याण साधेगा। तुम भी ऐसे देव, गुरु और धर्म के शरण मे जाओगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा।'

सवेग निर्भय बनने का पहला मार्ग है। अगर अपना वेग ठीक (सम्यक्) रखा जाये तो भय होने का कोई कारण नही है। सवेग मे भय को कोई स्थान नही है। सवेग में निर्भयता है और जो सवेग धारण करता है वह निर्भय बन जाता है।

सवेग किसे कहते हैं, यह पहले बतलाया जा चुका है। उसका सार इतना ही है कि मोक्ष की अभिलाषा और मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही सवेग है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला कर्मबधन को ढीला करने की इच्छा रखता है। कारागार को जो बधन मानता है वही उससे छुटकारा पाने की भी इच्छा करता है। कारागार को बधन ही न मानने वाला उससे छूटने की भी क्यो इच्छा करेगा ? बल्कि वह तो उस बधन को और मजबूत करना चाहेगा। ऐसा मनुष्य कारागार के बधन से मुक्त भी नही हो सकता। इसी प्रकार इस ससार को जो बधन रूप मानता है 'हस्त अशीरे कमदे हवा' अर्थात् मैं इस लालचरूप दुनिया की जेल मे हूं

ऐसा मानता है, उसी को मोक्ष की इच्छा हो सकती है। संसार को बधन ही न समझने वाला मोक्ष की इच्छा ही क्या करेगा ?

मोक्ष की अभिलाषा मे इस अध्ययन में कथित सभी तत्त्वो का समावेश हो जाता है। यद्यपि सब तत्त्वो पर अलग-अलग चर्चा की गई है किन्तु सबका सार 'मोक्ष की अभिलाषा होना' इतना ही है। मोक्ष की अभिलाषा उसी के अन्त.करण मे जागेगी जिसे ससार कड़ुवा लगेगा और जो ससार को बधन समझेगा।

सवेग से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—सवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मश्रद्धा मोक्षप्राप्ति का एक साधन है और यह साधन तभी प्राप्त होता है जब मोक्ष की आकाक्षा उत्पन्न होती है। जिसके हृदय में सवेग के साथ धर्मश्रद्धा होती है वह कदापि धर्म से विचलित नही हो सकता, चाहे कोई कितना ही कष्ट क्यो न पहुँचाए। ऐसे दृढ धर्मियो के उदाहरण शास्त्र के पानो मे उपलब्ध होते हैं।

सवेग से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने यह भी कहा है कि सवेग से धर्मश्रद्धा और धर्मश्रद्धा से सवेग उत्पन्न होता है। इस प्रकार सवेग और धर्मश्रद्धा दोनो एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। दोनो मे अविनाभाव सम्बन्ध है।

जिस पुरुष को दु.खो से मुक्त होने की इच्छा होगी वह धर्मश्रद्धा द्वारा सवेग बढाएगा और सवेग द्वारा धर्मश्रद्धा

प्राप्त करेगा। ऐसा किये विना वह रह नही सकता। जिसे कड़ाके की भूख लगी होगी वह भूख की पीडा मिटाने का प्रत्येक सभव उपाय करेगा। उसे ऐसा करना किसने सिखलाया? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहना होगा कि भूख के दुःख ने ही यह सिखलाया है, क्योकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कपडे किसलिए पहने जाते है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जायेगा कि सर्दी-गर्मी से बचने के लिए और लज्जा-निवारण के लिए ही वस्त्र पहने जाते है। घर भी सर्दी-गर्मी से बचने के लिए बनाया जाता है। यह बात दूसरी है कि उसमे फैशन को स्थान दिया जाता है, मगर उसके बनाने का मूल उद्देश्य तो यही है। इसी प्रकार जिसे ससार दुःखमय प्रतीत होगा वह सवेग को धारण करेगा ही और इस तरह अपनी धर्मश्रद्धा को मूर्त्त-रूप दिये विना नही रहेगा। जहाँ सवेग है वहाँ मोक्ष की अभिलाषा और धर्मश्रद्धा भी अवश्य होती है। इस प्रकार जहाँ सवेग है वहाँ धर्मश्रद्धा है और जहाँ धर्मश्रद्धा है वहाँ सवेग है। धर्मश्रद्धा जन्म, जरा, मरण आदि दुःखो से मुक्त होने का कारण है और सवेग भी इन दुःखो से मुक्त कर मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए ही होता है। इस प्रकार धर्मश्रद्धा और सवेग एक दूसरे के आधार-भूत है—दोनो मे अविनाभाव सबध है।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है। एक धर्मश्रद्धा ससार के लिए होती है और दूसरी सवेग के लिए। कुछ ऐसे लोग है जो अपने आपको धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषो पर पर्दा डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोंग करते है। किन्तु भगवान् के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया सवेग के

लिए नही है। इस प्रकार की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाये तो भी उससे कुछ लाभ नही होता।

शास्त्र मे बतलाया गया है कि कितनेक अभव्य जीव भी साधु बन जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि अभव्य होने के कारण जिसे धर्म के प्रति श्रद्धा ही नही होगी, वह साधु कैसे बन जायेगा? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि वास्तव मे अभव्य को धर्मश्रद्धा तो होती नही किन्तु साधुओं की महिमा-पूजा देखकर अपनी महिमा-पूजा के लिए वह साधु का वेष धारण कर लेते हैं। उसके बाद साधु की क्रिया भी इसी उद्देश्य से करते है कि अगर हम साधु की क्रिया नही करेंगे तो हमारी पूजा-प्रतिष्ठा नही होगी। मगर इस प्रकार का साधुत्व क्या मोक्ष के हिसाब मे गिना जा सकता है? जब ऐसा साधुपन भी मोक्ष के हिसाब में नही गिना जा सकता तो ऐसे ही आशय से की गई तुम्हारी धर्मक्रिया मोक्ष के लेखे मे आ सकती है? कदापि नही। इसलिए अगर किसी कुत्सित उद्देश्य से तुम धर्मकार्य करते हो तो उसे बदल डालो।

छद्मस्थता के कारण धर्मक्रिया द्वारा मानप्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो जाना सभव है, मगर इस इच्छा पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है। इस इच्छा का जीतना अगर सभव न होता तो जीतने का उपदेश ही क्यो दिया जाता? ससार में अगर शत्रु हैं तो उन्हे जीतने के उपाय भी हैं, किन्तु जो मनुष्य पहले से ही कायर बन जाता है वह उपाय होते हुए भी शत्रुओं को जीतने मे असमर्थ रहता है। भगवान् कहते हैं—ससार मे काम-लालसा तो भरी हुई है ही, मगर उसे जीत लिया जाये तो आत्मा का कल्याण हो सकता है। अगर कामलालसा जीतने मे पहले ही निर्व-

लता दिखलाई जायेगी तो वह कैसे जीती जायेगी ।

कुत्ता घर मे घुसकर खाने योग्य वस्तु खा जाता है। कुत्ते का यह स्वभाव है । पर क्या तुम स्वेच्छा से कुत्ते को घर मे घुसने देते हो ? कदाचित् असावधानी से घुस भी जाये तो क्या उसे बाहर नही निकालते ? काम, क्रोध आदि कषाय भी कुत्ते के समान हैं। इन कषाय रूपी कुत्तो को पहले तो आत्मा रूपी घर मे घुसने ही नही देना चाहिए और कदाचित् घुस पडे तो उसी समय बाहर निकाल देना चाहिए। हम तो छद्मस्थ है, ऐसा सोचकर जो काम-क्रोध को बाहर नही निकालेगा वह छद्मस्थ ही बना रहेगा । अतएव काम आदि अतरग शत्रुओ को सर्वप्रथम बाहर निकालना चाहिए ।

तुम नमस्कारमत्र का स्मरण तो प्रतिदिन करते होगे ? उस मत्र का पहला पद 'णमो अरिहताण' है । अर्थात् जिन्होने अतरग शत्रुओं को जीत लिया है, उन्हे नमस्कार हो । उन्होने काम-क्रोध आदि अतरग शत्रुओ को जीत लिया है वह जित-शत्रु वीतराग भगवान् ही मेरे देव है। अगर यह बात जानते हो और फिर भी आतरिक शत्रुओ को जीतने का प्रयत्न नही करते तो यह तुम्हारी कायरता ही गिनी जायेगी । अतएव आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके धर्म पर श्रद्धा धारण करो और फिर मोक्ष की इच्छा से सवेग की वृद्धि किये जाओ । दुनिया मे जगह-जगह दिखाई देता है कि लोग काम-लालसा से प्रेरित होकर देवी-देवता के नाम पर अनेक निरपराधी जीवो का बलिदान करते है और समझते है कि ऐसा करने से हम सुखी हो जाएँगे । परम्परागत सस्कारो के कारण तुम इस हिंसा से बचे हुए हो, किन्तु साथ ही यह देखने की आवश्यकता है कि तुम्हारे अन्त करण मे काम-

लालसा तो नही रही हुई है ? अगर कामलालसा मौजूद हो तो आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके कामलालसा को भी दूर करो और अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा पैदा करो। धर्मश्रवण करने के लिए तो मेरे पास आये ही हो, अब धर्मश्रद्धा ही जागृत करना शेष रहता है।

जब आन्तरिक शत्रु तुम्हारे ऊपर आक्रमण करें तो ऐसा विचार करो—हे आत्मा ! आन्तरिक रिपुओ की चढाई के समय अगर तू छिपकर बैठा रहेगा तो तू उन पर विजय प्राप्त कर सकेगा ? युद्ध के समय छिप कर बैठ रहना वीरात्मा को शोभा नही देता। उदाहरणार्थ तुम पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हो। पाक्षिक प्रतिक्रमण पन्द्रह दिन में किया जाता है। ऐसे समय आन्तरिक शत्रु चढाई कर दें तो ऐसा विचार करना चाहिए कि, आत्मन् ! पन्द्रह दिन मे यह अवसर मिला है। इस अवसर पर भी अतरग शत्रुओ को जीतने के बदले ससार का ही विचार करूँगा तो कोल्हू के बैल की तरह फिर-फिर कर उसी स्थान पर आ खडा होऊँगा। अतएव यही उचित है कि ऐसे अवसर पर कामनाओ मे न उलझ कर धर्मक्रिया द्वारा अतरग शत्रुओ, कामलालसा आदि को जीतने का ही प्रयत्न किया जाये।

कदाचित् यह कहा जाये कि गृहस्थों को तो ससार की चीजो की आवश्यकता रहती ही है। इस आवश्यकता की पूर्ति अगर धर्म द्वारा की जाये तो क्या हानि है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कामना करने से ही धर्म का फल मिलेगा, अन्यथा नही मिलेगा, ऐसा समझना भूल है। बल्कि कामना करने से तो धर्म का फल तुच्छ हो जाता है और कामना नही करने से अनत गुना फल होता है, तो

फिर कामना करके फल की कीमत घटाने से क्या लाभ है ?

मान लीजिये आपने एक रत्नजटित कीमती अगूठी पहनी है । यह अगूठी पहन कर आप शाक लेने के लिए शाक-बाजार मे गये । शाक बेचने वाले ने तुमसे कहा—भाई, यह अगूठी मुझे दे दो । इसके बदले सेर दो सेर शाक अधिक दे दूँगा । तो क्या आप दो सेर शाक के बदले अपनी कीमती अगूठी उसे दे देगे ? यह ठीक है कि आपको शाक की आवश्यकता है, फिर भी कीमती अगूठी देकर आप शाक नही लेगे । कुछ आगे चलकर आप मिठाई वाले की दुकान पर गए । मिठाई वाला भी आपसे कहने लगा—मैं आपको सेर-दो सेर अधिक मिठाई दूगा पर अगूठी मुझे दे दो । तो भी क्या आप दे देगे ? इसी प्रकार आप कपडे की दुकान पर गये । दुकानदार ने कहा- तुम्हे जो कपडा पसन्द हो, अधिक ले लो, लेकिन अपनी अगूठी मुझे दे दो । तो क्या आप अगूठी दे देगे ? आपको इन सभी चीजो की आवश्यकता है फिर भी रत्न की अगूठी आप नही देगे । वह अगूठी तो किसी जौहरी को ही दोगे जो रत्न की पूरी-पूरी कीमत चुका दे । ऐसा करने मे व्यावहारिक बुद्धिमत्ता समझी जाती है । कम कीमत मे अगूठी दे देना बुद्धिमत्ता नही वरन् मूर्खता समझी जाती है ।

इस व्यावहारिक उदाहरण को आप समझ गये होगे । धर्म के विषय मे भी ऐसा ही समझिए । धर्म एक बहुमूल्य रत्न है । इस रत्न के बदले मे ससार की तुच्छ वस्तु रूपी शाक-भाजी खरीदी जाये तो क्या ऐसा करना ठीक होगा ? इस धर्म-रत्न को ओछी कीमत मे न बेचोगे तो फिर आपको किसी भी सासारिक वस्तु की कमी न रह जायेगी । धर्म

को ससार की तुच्छ वस्तु के बदले न बेचने के कारण आपको दस बोलो की प्राप्ति को सुविधा होगी ।?

श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे दस बोलो का वर्णन करते हुए कहा है-

खित्तं वत्थु हिरण्ण च, पसवो दासपोरुसं,
चत्तारि कामखधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तव नाइव होइ, उच्चगोए य वण्णव ।
अप्पायके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥
-अ० ३, गा १७-१८.

अर्थात्-जो पुरुष संसार के सुखो में न ललचा कर अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा रखता है और अपने सवेग की वृद्धि करना चाहता है, वह अपनी धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप, कदाचित् वर्तमान भव मे ही मोक्ष प्राप्त न करे तो देवलोक में अवश्य जाता है और वहाँ की सात प्रधान पदवियो मे से एक पदवो प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह देवलोक के सुख भोग कर, नीची गति मे न जाकर मनुष्य भव ही प्राप्त करता है और उसे वहाँ उत्तम (१) क्षेत्र, वास्तु, चादी-सोना, पशु तथा दास (२) मित्र (३) ज्ञाति (४) उच्च गोत्र (५) सुन्दर शरीर (६) नीरोगता (७) बुद्धि (८) कुलीनता (९) यश और (१०) बल, इन दस बोलो को सुविधा मिलती है ।

ऊपर कहे दस बोलो मे पहला बोल उत्तम क्षेत्र है।

भगवान् ने जीवन की आवश्यक वस्तुओ मे क्षेत्र को प्रथम स्थान दिया है। क्षेत्र (खेत) में अन्न उत्पन्न न हो तो जीवन टिक ही नही सकता । जीवन अन्न के आधार

पर ही टिका हुआ है। यह बात एक परिचित उदाहरण द्वारा समझाता हू।

मान लीजिये, किसी राजा ने आपको एक सुन्दर महल दिया। महल फर्नीचर आदि से खूब सजा हुआ है। राजा ने ऐसा सुन्दर महल देने के स थ एक शर्त की कि इस महल मे, खेत मे पैदा होने वाली कोई भी चीज नही आ सकेगी। अब आप विचार कीजिये कि उस सुन्दर महल मे आपका जीवन कितने दिनो तक टिक सकेगा ? दूसरे, आपको एक झोपडी दी जाये और वहाँ खेत मे पैदा होने वाले अन्न आदि का उपयोग करने की छूट दी जाये तो क्या उससे आपका जीवन-व्यवहार वखूबी नही चलता ? अवश्य चल सकता है।

इस प्रकार जीवन में खेती का अपूर्व स्थान है, किन्तु आपको खेत नही चाहिए, खेत में पैदा हुई वस्तुएँ चाहिए ! यह कितनी भूल है। सच्ची सम्पत्ति तो खेत ही है। और सम्पत्ति को चोर चुरा सकते है। मगर खेती को कोई चुरा नही सकता। ऐसा होने पर भी आज तुम्हारे पास कितने खेत है ? कदाचित् तुम खेत न रखते होओ तो ऐसा अभिमान तो न रखो कि हम खेती नही करने वाले बडे है और खेती करने वाले किसान नीचे–हल्के हैं। तुम अपने सजातीय और साधर्मी किसानो के साथ सबध जोडने की हिम्मत रखो, कायरता मत लाओ। ससार मे हिम्मत की कीमत है।

सघ का धर्म क्या है और सघ को किस प्रकार अपने सब सदस्यो को अपनाना चाहिये, यह बतलाने के लिए प्राचीन काल का एक उदाहरण तुम्हारे सामने रखता हू। आज के सघ का नाम मब तो है, मगर उसमे सगति नही है। सगति होने पर सघ सम्पूर्ण राष्ट्र मे हलचल पैदा कर सकता है।

मगर आज के सघ मे ऐसी फूट पड गई है कि उसकी समस्त शक्तियाँ नष्ट हो रही हैं। भारत की फूट और असत्य, यह दो वस्तुएँ विदेशियो के लिए 'मेवा' के समान हैं। अगर यह दोनो वस्तुएँ भारत से हट जाएँ तो भारत विदेशियों के लिए 'मेवा' नही, वरन् 'सेवा' करने योग्य बन सकता है। सत्य और ऐक्य के द्वारा भारत का उत्थान हुए बिना नही रह सकता।

सघ मे किस प्रकार की सगति होनी चाहिए, इस विषय मे एक उदाहरण लीजिये—

भारतवर्ष मे युधिष्ठिर धर्मात्मा के रूप मे प्रसिद्ध हैं। जैन और अजैन, सभी युधिष्ठिर को महापुरुष और धर्मात्मा मानते है। दूसरी ओर दुर्योधन पापात्मा था। उसनें भीम को नदी मे पटक दिया था और पाडवो के घर में आग सुलगा दी थी। फिर भी अपने पुण्यप्रताप से पाडव बच गये। दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जूए मे हराकर पाडवों को जगल मे भेज दिया था। जगल मे वे अनेको कष्ट भुगत रहे थे। पाडव स्वय बलवान् थे और फिर श्रीकृष्ण जैसे उनके सहायक थे। पाडव चाहते तो दुर्योधन को परास्त कर देना उनके बाएँ हाथ का खेल था। मगर युधिष्ठिर कहते थे—जो बात जीभ से कह दी है उसका पालन जीव को जोखिम मे डालकर भी करना चाहिये। द्रौपदी इस विषय मे युधिष्ठिर को उपालभ देती और कहती—भीम और अर्जुन सरीखे बलवान् भाइयो को विपत्ति में डालनें वाले तुम्ही हो। तुमनें उन्हे कैसा दीन बना दिया है। मैं राजकन्या और राँजपत्नी होकर भी जंगली अन्न से उदरपूर्ति करती हू। इसके कारण भी तुम्ही हो।

पत्नी की ऐसी वाते सुनकर पुरुष का उग्र बन जाना स्वाभाविक है। परन्तु द्रौपदी की वातो के उत्तर मे युधिष्ठिर कहते है—'देवी! आज तुममे इतनी उग्रता क्यों जान पडती है? मुझे तो ऐसे कष्ट के समय भी सब भाई बडे ही सुन्दर जान पडते हैं और तू भी बहुत सुन्दर दिखाई देती है। इस समय मैं भी ऐसा हू कि इन्द्र भी मेरी बराबरी नही कर सकता। तुम इस समय को खराब बतलाती हो, परन्तु मै पूछता हूं कि यह समय खराब है या वह समय खराब था जब वस्त्रहीन करने के लिए तुम्हारा चीर खींचा गया था?

द्रौपदी ने उत्तर दिया—वह समय तो बहुत ही खराब था। इस समय निश्चिन्त हो जीवनयापन कर रहे है, मगर उस समय तो जीवित रहना भी कठिन हो गया था। उस समय का दुःख तो महाभयकर था।

युधिष्ठिर बोले—तो उस समय किसने तुम्हारी लाज रखी थी? उस समय को नजर के सामने रखकर मैं विचार करता हू तो यह समय मुझे प्रिय लगता है। मुझे यह समय इसलिए खराब नही लगता क्योकि इस समय में धर्म का पालन होता है। तुम बार-बार इस समय की निंदा करती हो, लेकिन जरा विचार करो कि किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी, धर्म के पालन के लिए हम लोगो को इस समय सकट सहने पडते हैं। इससे बढकर दूसरा आनन्द और क्या हो सकता है?

युधिष्ठिर और उनके भाई जगल में कष्ट सहन कर रहे थे, फिर भी दुर्योधन की आँखो में वे काँटे की तरह खटकते थे। दुर्योधन ने विचार किया—इस समय पाण्डव

असहाय हैं, मैं सेना ले जाकर उन्हे नष्ट कर डालूँ तो सदा के लिए झगडा ही मिट जाएगा । इस प्रकार विचार कर दुर्योधन गोकुल देखने के बहाने सेना लेकर चला । उसकी इच्छा तो पाण्डवो को नष्ट करने की थी मगर बहाना उसने किया गोकुल देखने का ।

पहले के राजा लोग भी गोकुल रखते थे और श्रावक भी गोकुल रखते थे । आनन्द श्रावक के वर्णन मे यह वर्णन कही नही देखा गया कि उसके यहाँ हाथी, घोड़ा या मोटरे थी, इसके विपरीत गायें होने का वर्णन अवश्य देखा जाता है । इस प्रकार पहले के लोग गायो की खूब रक्षा करते थे । मगर आज तो ऐसा जान पडता है मानो लोगो ने गोपालन को हलका काम समझ रखा है । लोग गायो के कत्ल की शिकायत करते है, मगर गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दुओ ने गायों का आदर करना छोड दिया है । लोगो को मोटर का पेट्रोल खाना सह्य हो जाता है मगर गाय का घास खाना सह्य नही है ।

दुर्योधन के हृदय मे पाण्डवो को नष्ट करने की भावना थी परन्तु वह गोकुल का निरीक्षण करने के बहाने सेना के साथ निकला । मार्ग मे दुर्योधन अपनी सेना के साथ गन्धर्व के बगीचे मे उतरा और इस कारण गन्धर्व तथा दुर्योधन के बीच लडाई हो गई । गधर्व बलवान् था । उसने सबको जीत लिया और दुर्योधन को जीवित पकडकर बाँध दिया । दुर्योधन के एक दूत ने यह सब समाचार पाण्डवो और द्रौपदी के पास पहुँचाए ।

समाचार सुनकर भीम, अर्जुन और द्रौपदी ने कहा-

बहुत अच्छा हुआ जो दुर्योधन पकड कर बाँध लिया गया। इस दुष्ट ने जैसा किया वैसा फल पाया। दुर्योधन दुष्ट विचार करके ही आ रहा था और उसने पाण्डवों को कष्ट भी बहुत दिया था। फिर भी दुर्योधन के कैद होने के समाचार सुनते ही युधिष्ठिर, भीम अर्जुन आदि से कहने लगे– भाइयो ! दुर्योधन के पकडे जाने से तुम प्रसन्न होते हो और इसे बहुत अच्छा समझते हो, मगर यह बात हम लोगो को शोभा नही देती। हे अर्जुन ! अगर तुझे मुझ पर विश्वास है तो मै जो कहता हू, उसी के अनुसार तू कर। अर्जुन बोले 'मुझे आपके ऊपर पूर्ण विश्वास है। अतएव आपका आदेश मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेगे, वही करूँगा।' तब युधिष्ठिर ने कहा–'जब कौरवो से अपना झगडा हो तो एक ओर सौ कौरव और दूसरी ओर हम पाँच पाण्डव रहे, मगर किसी तीसरे के साथ झगडा हो तो हम एक सौ पाँच साथ रहे। दुर्योधन कैसा ही क्यो न हो, आखिर तो अपना भाई ही है। हममे पुरुपार्थ होने पर भी कोई हमारे भाई को कैद कर रखे, यह कितना अनुचित है ? अतएव अगर तुममे पुरुषार्थ हो तो जाओ और दुर्योधन को गधर्व के बधन से मुक्त कर आओ।

धर्मात्मा युधिष्ठिर ने विरासत मे भारतवर्ष को ऐसी हितबुद्धि की भेट दी है। मगर आजकल यह हितबुद्धि किस प्रकार भुला दी गई है और परिस्थिति कितनी विकट हो गई है, यह देखने की आवश्यकता है। कोई तीसरी शक्ति सबको दबा रही हो तो भले दबावे किन्तु हिन्दु-मुसलमान, जैन–वैष्णव अथवा जैन परस्पर मे शान्ति के साथ नही रह सकते। युधिष्ठिर कहते है–अपना भाई अपने ऊपर भले

ही लाखो जुल्म करता हो, मगर यदि वह भाई किसी तीसरे द्वारा दबाया जाता हो या पीडित किया जाता हो तो उसे पीडा-मुक्त करना भाई का धर्म है ।

अर्जुन पहले कहता था–दुर्योधन, गधर्व द्वारा कैद कर लिया गया, यह बहुत अच्छा हुआ । परन्तु युद्धिष्ठिर की आज्ञा होते ही वह गधर्व के पास गया । उसने दुर्योधन को बधनमुक्त करने के लिए कहा। यह सुनकर गधर्व ने अर्जुन से कहा– 'मित्र ! तुम यह क्या कह रहे हो ? तुम इतना ही विचार नही करते कि दुर्योधन बडा ही दुष्ट है और तुम सबको मारने के लिए जा रहा था । ऐसी स्थिति मे मैंने उसे पकड कर कैद कर लिया है तो बुरा क्या किया है ? इसलिए तुम अपने घर जाओ और इसे छुडाने के प्रयत्न मे मत पडो । अर्जुन ने उत्तर दिया–दुर्योधन चाहे जैसा हो आखिर तो हमारा भाई ही है, अतएव उसे बधनमुक्त करना ही पडेगा ।'

अर्जुन तो भाई की रक्षा के लिए इस प्रकार कहता है, मगर आप लोग भाई-भाई कोर्ट मे मुकदमेबाजी तो नही करते ? कदाचित् कोई कहे कि हमारा भाई बहुत खराब है तो उससे यही कहा जा सकता है कि वह कितना ही खराब क्यो न हो, मगर दुर्योधन के समान खराब तो नही है ! जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन के समान भाई के प्रति इतनी क्षमा और सहनशीलता का परिचय दिया तो तुम अपने भाई के प्रति कितनी क्षमा और सहनशीलता का परिचय नही दे सकते ? मगर तुम मे भाई के प्रति इतनी क्षमा और सहनशीलता नही है और इसी कारण तुम भाई के खिलाफ न्या-

यालय मे मुकदमा दायर करते हो ! अर्जुन, भीम और द्रौपदी-तीनो दुर्योधन से बहुत खिलाफ थे, फिर भी उन्हे युधिष्ठिर के वचनो पर ऐसा दृढ विश्वास था तो तुम्हे भगवान् के वचनो पर कितना अधिक विश्वास होना चाहिए ! भगवान् कहते है—सिर काटने वाला वैरी भी मित्र ही है। वास्तव मे तो कोई किसी का सिर काट ही नही सकता, किन्तु आत्मा ही अपना सिरच्छेद कर सकती है। अत आत्मा ही अपना असली वैरी है।

अर्जुन ने गधर्व से कहा- 'भले ही तुम हमारे हित की बात कहते होओ, मगर अपने भाई की बात के सामने मै तुम्हारी बात नही मान सकता। मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की बात शिरोधार्य करके दुर्योधन को तुम्हारे बधन से छुडाना है। अत तुम उसे बधन-मुक्त कर दो। अगर यो नही मुक्त करना चाहते तो युद्ध करो। अगर तुमने हमारे हित के लिये ही उसे कैद कर रखा हो तो मेरा यही कहना है कि उसे छोड दो। मुझे उसकी करतूते नही देखनी, मुझे अपने भाई की आज्ञा का पालन करना है। अतएव उसे छोड दो।

आखिर अर्जुन दुर्योधन को छुडा लाया। युधिष्ठिर अर्जुन पर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे- 'तू मेरा सच्चा भाई है।' उन्होने द्रौपदी से कहा देखो, इस जगल में कैसा मगल है ! इस प्रकार युधिष्ठर ने जगल मे और सकट के समय मे धर्म का पालन किया था। मगर इस पर से आप अपने विषय मे विचार करो कि आप उपाश्रय मे धर्म का पालन करने आते है या अपने अभिमान का पोषण करने आते है ? धर्मस्थान मे प्रवेश करते ही 'निस्सही निस्सही'

कहकर अभिमान, क्रोध आदि का निषेध करना चाहिए। अगर इसका निषेध किये बिना ही धर्मस्थान मे आते हो तो कहना चाहिए कि आप अभी धर्मतत्त्व से दूर हैं।

भीम ने युधिष्ठिर से कहा — 'गधर्व द्वारा दुर्योधन के कैद होने से तो हमे प्रसन्नता हुई थी। आप न होते तो हम इसी पाप मे पडे रहते।' भीम का यह कथन सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया 'यह तो ठीक है, मगर अर्जुन जैसा भाई न होता तो मेरी आज्ञा कौन मानता ?

तुम भी छद्मस्थ हो। तुम्हारे अन्त करण में इस प्रकार का पाप आना सभव है। फिर भी आज्ञा शिरोधार्य करने का ध्यान तो तुम्हे भी रखना चाहिए। भगवान् की आज्ञा है कि सबको अपना मित्र समझो। अपने अपराध के लिए क्षमा मागो और दूसरो के अपराध क्षमा कर दो। इस आज्ञा का पालन करने मे ऐसी पॉलिसी का उपयोग नही करना चाहिए कि जिनके साथ लडाई-झगडा किया हो उनसे तो क्षमा माँगो नही और दूसरो के केवल व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करो। सच्ची क्षमा माँगने का और क्षमा देने का यह सच्चा मार्ग नही है। शत्रु हो या मित्र, सब पर क्षमाभाव रखना ही महावीर भगवान् का महामार्ग है। भगवान् के इस महामार्ग पर चलोगे तो आपका कल्याण होगा। आज युधिष्ठिर तो रहे नही मगर उनकी कही बात रह गई है, इस बात को तुम ध्यान मे रखो और जीवन-व्यवहार मे उतारो। धर्म की बात कहने मे और अमल मे लाने मे बडा अन्तर है। धम का अमल करने से मालूम होगा कि धर्म मे कैसी और कितनी शक्ति रही हुई है ! इसी प्रकार सघ का बल सगठित करके, व्यवहार किया

जाये तो सघबल की शक्ति समग्र राष्ट्र में हलचल पैदा कर देगी । सघबल धर्म का प्राण है । जहाँ सघबल नही होता वहा धर्म भी जीवित नही रह सकता

कहने का आशय यह है कि सघ से सगति हो तो सघ बहुत कुछ काम कर सकता है, अतएव अपने सजातीय और सधर्मी भाइयो को दूर नही रखना चाहिए और उन्हे भी प्रेमपूर्वक अपनाना चाहिए ।

आत्मा का कल्याण करने के लिए भगवान् ने सवेग मे पराक्रम करने के लिए कहा है । मोक्ष की अभिलाषा करना 'सवेग' कहलाता है । अगर तुमने भव-बधनो का स्वरूप समझा होगा और तुम्हे उन बधनो से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हुई होगी तो तुम्हारे भीतर अवश्य ही सवेग जागृत होगा । जहा तक सवेग जागृत नही होता वहा तक मोक्ष जाने की बात केवल बात ही बात है । शास्त्र में कहा है—

वाया वीरिय मित्तेण समासासेन्ति अप्पय ।
उ० ६-६

अर्थात् जब तक सवेग जागृत नही होता तब तक वाणी के विलास द्वारा ही आत्मा को आश्वासन देना पडता है । पर बडी-बडी बातो से दिये गये आश्वासन से आत्मा को सतोष किस प्रकार हो सकता है ? अतएव शास्त्र की वाणी को जीवन मे ओतप्रोत करके सवेग जागृत करो अर्थात् हृदय से मोक्ष की अभिलाषा जीवित करो ।

मोक्ष की अभिलाषा होना सवेग है, यह तो आप समझ गये । मगर सवेग का फल क्या है ? यह भी जानना चाहिये । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि सवेग द्वारा अनुत्तर अर्थात् प्रधान धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है । प्रधान

धर्म मोक्षधर्म है, क्योकि मोक्ष के सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु अनुत्तर वस्तु नही है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ कहलाता है। चार पुरुषार्थो मे मोक्ष पुरुषार्थ अनुत्तर है। सवेग द्वारा इसी मोक्षधर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। जब मोक्षधर्म पर दृढ श्रद्धा पैदा होती है, तब मोक्षधर्म के सामने ससार के समस्त पदार्थ स्वभावत तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

आपको यह तो भलीभाति विदित ही है कि एक रुपये के मुकाबले एक आना की कितनी कीमत है? आपको एक आना के बदले एक रुपया मिलता हो तो आप एक आना का त्याग करने लिए तैयार हो जाएंगे या नही? और एक गिन्नी मिलती हो तो एक रुपये को, हीरा मिलता हो तो एक गिन्नी को और चिन्तामणि रत्न मिलता हो तो एक हीरे को त्यागने के लिये तैयार हो जाओगे या नही? जैसे इनका त्याग करने को तैयार हो जाते हो उसी प्रकार अनुत्तर धर्म के बदले मे तुम ससार की सभी चीजो का त्याग करने के लिए तैयार हो जाओगे। इस त्याग के पीछे भी श्रद्धा काम कर रही है। एक आना की अपेक्षा एक रुपये का मूल्य अधिक है, ऐसी दृढ श्रद्धा तुम्हारे भीतर होगी तो ही तुम एक आना का त्याग कर सकोगे अन्यथा नही। इसी भाति अगर तुम्हे दृढ श्रद्धा होगी कि मोक्षधर्म अनुत्तर है अर्थात् मोक्षधर्म से श्रेष्ठ और कोई वस्तु नही है, तभी तुम ससार की वस्तुओ का त्याग कर सकोगे। नही तो ससार के प्रलोभनो से छूटना बहुत कठिन है। मोक्षधर्म पर दृढ श्रद्धा हो तो ही सासारिक प्रलोभनो पर विजय प्राप्त की जा सकती है और उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुत्तर धर्म वही है जो भव-बधनो से मुक्ति देता है,

परतन्त्रता से मुक्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त कराता है और पतितावस्था मे से बाहर निकाल कर उन्नत बनाता है। धर्म के साथ 'अनुत्तर' विशेषण लगाने का कारण यह है कि बहुतेरे लोग पाप को भी धर्म का नाम देते हैं। जहा पाप है या पाप का कोई भी कारण है, वहाँ धर्मतत्त्व नही है, यह बतलाने के लिए धम के साथ अनुत्तर विशेषण लगाया गया है। हृदय मे मोक्ष की अभिलापा होगी तो अनुत्तर धर्म के ऊपर ही श्रद्धा उत्पन्न होगी और जब अनुत्तर धर्म पर-दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है तो कोई दूसरी झझटो मे पटकने का चाहे जितना प्रयत्न करे, यहाँ तक कि देव और दानव भी धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करे, फिर भी वह अनुत्तर धर्म से तिल भी विचलित नही होता। हृदय मे सच्चा सवेग होने पर अनुत्तर धर्म पर ऐसी अटल-अचल श्रद्धा उत्पन्न होती है और ऐसी सुदृढ एव अचल श्रद्धा होने पर ही हृदय मे सच्चा सवेग जागृत होता है। इस प्रकार अनुत्तर धर्म-श्रद्धा और सवेग के बीच परस्पर कार्यकारणभाव सबध है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार की धर्मश्रद्धा का फल क्या है ? उत्तर यह है कि अगर कोई मनुष्य इस प्रकार की धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप हाथी-घोडा वगैरह की आशा करे तो उसके लिए यही कहा जा सकता है कि अभी उसके हृदय मे मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न ही नही हुई है और अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा भी जागृत नही हुई है। वास्तव मे अनुत्तर धर्मश्रद्धा का ऐसा फल चाहना ही नही चाहिए। उसका सच्चा फल तो अनन्तानुबधी क्रोध मान, माया और लोभ का नष्ट होना है।

अब यह विचार करना चाहिए कि अनन्तानुबधी क्रोध,

मान, माया और लोभ क्या है ? जिसका अन्त न आये और जो अधिक-अधिक बढता ही चला जाये ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ को शास्त्रकार अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ कहते है । जिसके होने पर जन्म-मरण का अन्त नही आता, वह अनन्तानुबधी क्रोध आदि कहलाते है। एक के बाद एक ऊपरा-ऊपरी जो बध होता ही रहता है वह भी अनन्तानुबधी कषाय है।

अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ किस प्रकार के होते हैं, यह बात समझाते हुए शास्त्रकार कहते है-

जैसे बिजली पडने से छिन्नभिन्न हुआ पहाड फिर आपस मे नही मिलता, इसी प्रकार हृदय मे ऐसा क्रोध उत्पन्न हो कि, जिसके प्रति क्रोध हुआ है उसके साथ किसी भी प्रकार पुन प्रेम-सम्बन्ध या समभाव उत्पन्न न हो, वह अनन्तानुबधी क्रोध है ।

जैसे पत्थर का खभा टूट भले ही जाये मगर नम नही सकता, उसी प्रकार जो मान कितना ही समझाने पर भी विनम्र न बने, वह अनन्तानुबधी मान कहलाता है ।

जैसे बास की जड मे गाँठ मे गाँठ होती है, उसी प्रकार कपट पर कपट करना और ऐसा माया जाल होना कि जिसमे दूसरे भी फँस जाएँ, वह अनन्तानुबधी माया है।

जैसे किरमिची रग के रेशम को भले ही जला दिया जाये, मगर वह अपना रग नही छोडता, उसी प्रकार सर्वस्व नाश होने पर भी जो लोभ छूटता नही, वह अनन्तानुबधी लोभ है ।

धर्म पर दृढ श्रद्धा उत्पन्न होने से और हृदय में सवेग

जागृत होने से इस प्रकार का क्रोध, मान, माया और लोभ नष्ट हो जाता है, या वह अल्प परिमाण मे रह जाता है। जब तक अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रबलता रहती है, तब तक धर्म पर श्रद्धा भी उत्पन्न नही होती और जब धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी तब यह क्रोध, मान, माया और लोभ नष्ट हो जाएँगे अथवा अल्प परिमाण मे रहेगे। कदाचित् किसी पर क्रोध होगा भी तो वह थोडी देर में शात हो जायेगा और हृदय फिर स्वच्छ बन जाएगा। अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा पैदा होने पर अनन्तानुबधी क्रोध आदि नही रह पाते और उस स्थिति मे देव-दानव भी अगर धर्म से विचलित करना चाहे तो वह भी उस दृढधर्मी को विचलित नही कर सकते। ऐसे दृढधर्मी के विषय मे कदाचित् कोई कहता है कि यह क्रोधी है या मानी है और हमारी बात नही मानता, तो दृढधर्मी इस प्रकार के कथन पर ध्यान नही देता और अपने धर्म से विचलित भी नही होता। जैसे मजीठ का रग ऐसा पक्का माना जाता है कि उस पर दूसरा रग नही चढता, उसी प्रकार दृढधर्मी पर धर्म का रग ऐसा पक्का चढा रहता है कि उस पर पाप का रग किसी भी प्रकार नही चढ सकता।

शास्त्र में ऐसे दृढधर्मियो के अनेक उदाहरण मिलते है और कथासाहित्य मे भी अनेक उदाहरण देखे-सुने जाते है। उदाहरणार्थ एक ओर सीता थी और दूसरी ओर रावण था। दोनो अपनी-अपनी बात पर दृढ थे। रावण को उसके भाई विभीषण ने और उसकी पत्नी मन्दोदरी ने भी बहुत समझाया था और रावण ने सीता को भी समझाने मे कमी नही रखी थी, फिर भी दोनो अपनी-अपनी बात पर अटल

थे । ऐसी स्थिति मे किसे पापी और किसे धर्मी कहना चाहिये ? तुम सीता को ही दृढधर्मी कहोगे, लेकिन तुम अपने विषय में भी विचार करो कि तुम क्या कर रहे हो ? आज और-और बातो से तुम भले ही विचलित न होते होओ, मगर धर्म से तो पहले ही विचलित हो जाते हो ।

एक कवि ने कहा है सीता के पास दियासलाई नही थी, अन्यथा वह रावण के पास दुख न भोगती । सीता जल मरने के लिये आग चाहती थी परन्तु उसे आग नहीं मिली और इसी कारण उसे कष्ट भोगने पडे । आज तो दियासलाई का प्रचार हो गया है, उस समय नही हुआ था । इस कारण सीता का जमाना खराब था या आजकल का जमाना खराब है ? पहले के लोग घर में आग रखते थे और आग सुलगाने के लिये चकमक रखते थे । मगर आज दियासलाई का प्रचार हो गया है । यह बात दृष्टि मे रखकर किस जमाने को अच्छा कहना चाहिये ? अर्थात् पहले का जमाना अच्छा था या आज का जमाना ?

अगर सीता को दियासलाई मिल जाती और उससे आग लगाकर वह जल मरती तो उसका वह महत्व जो आज है, न रह जाता । अतएव सीता के पास दियासलाई न होना अच्छा हुआ या बुरा ? अगर इसे अच्छा समझते हो तो मानना चाहिये कि जिस जमाने मे दियासलाई नही थी, वह जमाना खराब नही था । अब जरा इस जमाने की तरफ देखो कि यह कैसा है ?

आज तुम नई-नई चीजों पर मुग्ध बन रहे हो परन्तु इनके द्वारा तुम्हारे चरित्र का रक्षण हो रहा है या भक्षण, यह भी तो देखो ! आज लोग नवीन चीजो के प्रलोभन मे

पड जाते हैं पर सीता के समान अपने शील की रक्षा करते हो ऐसा नही देखा जाता। लोग यह तो देखते है कि किसका फैशन अच्छा है, मगर यह नही देखते कि किसका शील सुरक्षित है ? आज हृदय मे तो कुटिलता का पाप भरा रहता है और ऊपर से अपने को धर्मी प्रकट करने के लिये धर्म का स्वाग रचा जाता है। परन्तु यह सच्ची धर्मश्रद्धा नही है, धर्म के नाम पर की जाने वाली धोखेबाजी है। धर्म की सच्ची श्रद्धा वाला अपने पापो को दबा या छिपा नही रखता, वह अपने पापो को नग्न रूप मे परमात्मा के समक्ष प्रकट कर देता है। परन्तु आज क्या होता है –

कैसे देउ नाथहि खोरी।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखो चोरि,
सगवश कियो शुभ सुनाये सकल लोक निहोरी ॥कैसे०॥

भक्त कहता है–हे प्रभो ! मैने जो पाप प्रेमपूर्वक किये है, उन्हे मैं हृदय मे छिपा रखता हूं–प्रकट नही करता, और किसी के कहने सुनने से या किसी के साथ अथवा पूर्वजो से प्राप्त सस्कारो के कारण मुझसे जो अच्छा काम हो गया है, उसे मैं दुनिया भर को सुनाता फिरता हू।'

आज यही देखा जाता है कि अगर किसी ने थोडा सा शुभ काम किया तो दानी या उदार कहकर समाचार पत्रों में बडे-बडे अक्षरों मे उसकी प्रशसा की जाती है। मगर शुभ कामो की तरह क्या कोई अपने अशुभ कामो का भी विज्ञापन करता है ! अगर नही, तो परमात्मा को क्यो दोष दिया जाता है कि वह हमे तारता नही है ? उचित तो यह है कि धर्म या शुभ काम को प्रकट न किया जाये और पाप या अशुभ काम को ही प्रकट किया जाये। मगर

आजकल तो इससे एकदम विपरीत दिखाई पडता है। धर्म को क्यो छिपाना चाहिए और पाप को क्यो प्रकट करना चाहिये, यह बात एक सामान्य उदाहरण द्वारा समझाता हू।

मान लीजिये आप किसी जगल मे जा रहे है। आपको रास्ते मे चोर मिले। अब आप चोरो से बचने के लिए कीमती चीजे छिपाएँगे या कम कीमती ? इसके उत्तर मे आप यही कहेगे कि कीमती चीजे ही छिपानी चाहिए। तो अब विचार कीजिए कि धर्म और पाप मे से कीमती क्या है ? अगर आप धर्म को कीमती मानते हैं तो धर्म को छिपाइए और पाप को प्रकट कीजिये। जब आप पाप को प्रकट करोगे तो आपमे अद्भुत नम्रता आ जाएगी। धर्म या शुभ कार्य का निर्णय तो जल्दी नही कर सकते, पर पाप का निर्णय तो कर सकते हो ! अपने पाप को देव, गुरु और धर्म की साक्षी से प्रकट करोगे तो आप मे दीनता आएगी और जब सचमुच अन्त करण से दीन बनोगे तभी परमात्मा को प्रार्थना करने के योग्य बनोगे। अगर दीन बनकर परमात्मा की प्रार्थना करने की योग्यता सम्पादन करना है तो परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना करो—

श्री मुनिसुव्रत साहबा, दीनदयाल देवातणा देव के,
तरण-तारण प्रभु तो भणी, उज्ज्वल चित्त सुमरू नितमेव के।

परमात्मा दीनदयाल कहलाता है तो दीनदयाल की दया प्राप्त करने के लिए दीन बनना ही पडेगा। जब दीनदयाल परमात्मा के समक्ष भक्त दीन बन जाता है तो हृदय मे अहकार या अभिमान रह सकता है ? सच्चे हृदय से परमात्मा के आगे दीन बनने पर अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ टिक नही सकते। अतएव क्रोध आदि

कषाय को दूर करने के लिए अपने पापों की हृदय मे आलोचना करना चाहिए।

आलोचना पाप की होती है। धर्म की आलोचना नहीं होती। मगर आज उल्टी गगा बह रही है। लोग धर्म की आलोचना करते है और पाप दबाया या छिपाया जाता है धर्म की आलोचना करना अर्थात् अपने शुभ कार्यों की स्वयमेव प्रशसा करना और समाचार पत्रो मे अपना छपा हुआ नाम देखने की लालसा रखना ही क्या दीनता है? भगवान् ने कहा है कि अगर तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो दीनता धारण करो और दीनता द्वारा हृदय मे रहे हुए तीन शल्यो को, जो हमेशा दुःख दिया करते है, बाहर खीच डालो।

जो मनुष्य अपने शल्य रहने देता है और ऊपर से सुन्दर वस्त्र पहन लेता है वह क्या शल्य के दुःख मे बच सकता है? इसी प्रकार ऊपर से धर्म करने वाला किन्तु हृदय मे शल्य धारण करने वाला क्या आत्मा को कमदुःख से बचा सकता है? नही। इसलिए हृदय मे दीनता लाने के लिए इस प्रकार विचार करो—

जानत हो निज पाप उदधि सम,
जल-सीकर सम सुनत लरो।
रज सम पर अवगुण सुमेरु करि,
गुणगिरि सम रजते निदरो॥

भक्त कहता है— हे प्रभो! मुझमे समुद्र के समान पाप भरे है। मेरे इन पापो मे से एक बूँद जितना पाप भी अगर कोई प्रकट कर देता है तो मैं उसके साथ बलपूर्वक झगडने लगता हू और दूसरे के सुमेरु जैसे गुण भी मै रजकण के समान गिनता हू और उनकी निंदा करता हू। मैं

ऐसा पापी हूं ! ऐसी स्थिति मे, हे प्रभो ! मैं तेरी प्रार्थना के योग्य कैसे बन सकता हू ?

जो व्यक्ति इस प्रकार गुणग्राही नही वरन् अवगुण-ग्राही है वह व्यक्ति अभी तक सम्यग्दर्शन से दूर है, ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि तो यही कहेगा कि मुझे पराये अवगुणो से क्या मतलब ? मै तो उसी को उपकारी मानूगा जो मेरे अवगुण मुझे बतलाएगा। अगर तुम्हारे पर मे काटा लगा हो और कोई दूसरा आदमी काँटा बाहर निकाल दे तो तुम्हे अच्छा लगेगा या बुरा ? कदाचित् तुम कहोगे कि हमारे पैर मे काँटा लगा हो और कोई निकाल दे तो ठीक है, मगर काँटा तो न लगा हो फिर भी कोई कहे कि काँटा लगा है तो क्या हमे बुरा नही लगना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि जब तुम जानते हो कि तुम्हे काटा नही लगा है तो फिर दूसरे के कथन पर ध्यान ही क्यो देते हो ? ऐसी स्थिति मे तो दूसरो की बात पर कान ही नही देना चाहिए। तुमने अपने सिर पर सफेद टोपी पहनी हो और दूसरा कोई तुम्हे काली टोपी वाला कहे तो तुम्हे खराब लगने का क्या कारण है ? ऐसे अवसर पर तुम यही सोचोगे कि मेरे सिर पर सफेद टोपी है, अत. वह किसी और को काली टोपी वाला कहता होगा ! इससे मुझे क्या सरोकार है ? इस प्रकार विचार करना समदृष्टि का लक्षण है। आत्मा जब इस प्रकार समदृष्टि के मार्ग पर प्रयाण करेगा तभी अपना कल्याण साध सकेगा। कुटिलता और क्रूरता के व्यवहार से आत्मा का कल्याण साध्य नही है।

अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा रखने वाला किस प्रकार धर्म पर दृढ रहता है, यह बात समझने के लिये शास्त्र मे वर्णित

कामदेव श्रावक के चरित पर दृष्टि दीजिये। कामदेव पर पिशाचरूपधारी देव कुपित हुआ था। उसने कामदेव से अनेक कटुक वचन कहे थे। पिशाच ने कहा था-'अप्पत्थिय-पत्थिया ! तू अपना धर्म छोड दे, अन्यथा तुझे मार डालूगा।' मगर कामदेव विचार करता था—'यह पिशाच मुझे न इच्छा करने योग्य वस्तु की इच्छा करने वाला कहता है, मगर वह अपनी समझ के अनुसार क्या गलत कहता है ? यह पिशाच है, अतएव इसे धर्म अवाछनीय—न इच्छा करने योग्य प्रतीत होता है, और इसी कारण यह मुझसे ऐसा कहता है। मगर मैं धर्म को वाछनीय और आदरणीय समझता हू तो फिर मुझे क्यो बुरा लगे ? धर्म उसके लिए इच्छनीय है या नही, इस वात का पता तो इसी मे चल जाता है कि इसमे धर्म का अभाव है। इसी कारण तो इसे देव होकर भी पिशाच का रूप धारण करना पडा है। इसमे धर्म होता तो इसे ऐसा क्यो करना पडता ? देवो के योग्य सुन्दर आभूषण त्याग कर स्वेच्छापूर्ण साँप का उत्तरासन क्यो करना पडता ? इस देव ने पिशाच का वैक्रिय रूप धारण किया है। यह सोचता होगा कि इस रूप से मै डर जाऊँगा और धर्म से विचलित हो जाऊँगा ! इसी कारण दिव्य रत्नो की मनोहर माला धारण करने वाला आज कैकडो और चूहो की माला पहन कर आया है ! धर्म न होने के कारण वेचारे को कितना वीभत्स और भयानक रूप धारण करना पडा है। धर्म के अभाव से ही इसकी यह दयनीय दशा वनी है।'

कामदेव श्रावक अठारह करोड सुवर्ण-मोहरो का और अस्सी करोड़ गायो का स्वामी था, फिर भी उसमे इतनी

दृढता और सहनशीलता थी। तो फिर हम साधुओ को कितनी धर्मदृढता और सहिष्णुता रखनी चाहिए? और तुम श्रावको को भी कितना दृढधर्मी और सहिष्णु बनना चाहिए? इस बात पर जरा विचार कीजिये। अगर हम साधुओ में पवित्रता होगी तो तुममे भी पवित्रता आये बिना न रहेगी। कामदेव श्रावक में अटल-अचल धर्मश्रद्धा होने के कारण धर्म से विचलित नही हुआ। यही नही, उसने देव को भी पिशाच से पुन. देव बना दिया।

तुम्हारे हृदय मे जब धर्म के ऊपर इस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न हो तो समझ लेना कि तुम अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ से छुटकारा पा चुके हो और तुम्हारे भीतर धर्मश्रद्धा तथा सवेग जीवित और जागृत हो गया है। जीवन मे धर्मश्रद्धा और सँवेग को मूर्त्त रूप देने का यह अपूर्व अवसर मिला है, अतएव इस अवसर का सदुपयोग कर लोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

यह बतलाया जा चुका है कि सवेग का अर्थ मोक्ष की अभिलाषा करना है। जिसमें मोक्ष की अभिलाषा होगी वह कार्यकारणभाव का खयाल रखकर कार्य भी उसी के अनुसार करेगा अर्थात् विपरीत कार्य नही करेगा। मुमुक्षु विपरीत कार्य करेगा ही किसलिये? गेहूं की इच्छा रखने वाला किसान खेत मे बाजरा बोएगा तो उसे अभीष्ट फल कैसे मिल सकेगा? इसी प्रकार मोक्ष से विपरीत कार्य करने वाला मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है? जैसे फल की इच्छा हो कार्य भी वैसा ही करना चाहिये।

सूर्य प्रकाश देता है परन्तु उस प्रकाश मे सब अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं और जैसा काम

करते है वैसा ही फल पाते है; इसी प्रकार ज्ञानियो ने तो वाणी का प्रकाश दिया है। उस वाणी के आधार पर जो अनुकूल कार्य करेगा उसे अनुकूल फल मिलेगा, जो प्रतिकूल काम करेगा उसे प्रतिकूल फल मिलेगा। सूर्य का प्रकाश होने पर भी अगर कोई जान-बूझकर गडहे मे गिरता है तो इसमे सूर्य के प्रकाश का क्या दोष है? इसी प्रकार ज्ञानियो की वाणी मार्गदर्शक होते हुये भी अगर कोई उन्मार्ग में जाता है तो इसमे उस वाणी का क्या अपराध है?

कुरान मे एक जगह कहा है 'हे मुहम्मद! जो स्वय नही बिगडता उसे मैं बिगाडता नही हू और जो स्वय नही सुधरता उसे मै सुधारता नही हूँ।' अर्थात् बिगाड और सुधार अपनी इच्छा और कार्य पर निर्भर है। शास्त्र मे भी यही बात कही गई है— 'अप्पाकत्ता विकत्ता य' अर्थात् आप स्वय ही अपने हर्त्ता-कर्त्ता हैं, दूसरा आत्मा का कोई सुधार या बिगाड नही कर सकता, अतएव अपनी आत्मा को ही सावधान बनाने की आवश्यकता है। आत्मा को सावधान बनाकर मोक्ष के अनुकूल कार्य किया जाये तो मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है।

'हे भगवन्! सवेग का फल क्या है?' यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—सवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और अनुत्तर धर्मश्रद्धा द्वारा अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ का नाश होता है और उससे नवीन कर्मो का बध नही होता। अर्थात् अनन्तानुबधी कषाय के उदय से होने वाले पाप रुक जाते हैं। जिसे अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा

उत्पन्न होती है वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है और सम्यग्दृष्टि के विषय मे शास्त्र मे कहा है—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ।

—श्री आचाराग सूत्र

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पाप नही करता है । चौथे गुणस्थान से लगाकर चौदहवे गुणस्थान तक के जीव सम्यग्दृष्टि माने जाते हैं और जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है वह नवीन पाप नही करता है । इस प्रकार अनुत्तर धर्म की श्रद्धा से नये पापकर्मों का बध रुक जाता है । अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा होने से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ नहीं रह पाते और जब अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि नही रह पाते तो तत्कारणक (उनके कारण बन्धने वाले) पापकर्म नही बधते । इसका कारण यह है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है । कारण ही न होगा तो कार्य कैसे होगा ? कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता ।

इसी तरह कारण से ही मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और जब मिथ्यात्व होता है तभी नये कर्मों का बन्ध भी होता है । ससार मे मिथ्यात्व किस कारण से है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व का कोई न कोई कारण अवश्य है, इसीलिये मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व का कारण हट जाने पर मिथ्यात्व भी नही टिक सकता । जिसे जेल में जाने की इच्छा नही होगी, वह जेल में जाने के कार्य नही करेगा । जो जेल जाने के काम करेगा उसे इच्छा न होने पर भी जेल जाना ही पडेगा । यह बात दूसरी है कि कोई जेल के योग्य काम न करे फिर भी उसे जेल जाना पडे, मगर इस प्रकार जेल जाने वालो के लिए जेल,

जेल नही वरन् महल बन जाता है अर्थात् ऐसे लोग जेल से भी आनन्द का ही अनुभव करते है। इस प्रकार कारण हो तो कार्य होता ही हैं। अगर कोई मनुष्य कार्य का निवारण करना चाहता है तो उसे कारण का निवारण पहले करना चाहिये। इस कथन के अनुसार मिथ्यात्व को हटाने की इच्छा रखने वाले को पहले अनन्तानुबन्धी कषाय हटाना चाहिये। जिसमे वह कषाय रहेगा, उसमे मिथ्यात्व भी रहेगा। अनतानुबन्धी कषाय जाये तो मिथ्यात्व भी नही रह सकेगा।

जब मिथ्यात्व नही रह जाता तभी 'दर्शन' की आराधना होती है। जब तक मिथ्यात्व है तब तक दर्शन की भी आराधना नही हो सकती। रोगी मनुष्य को चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दिया जाये, वह रोग के कारण शरीर को पर्याप्त लाभ नही पहुँचा सकता, बल्कि वह रोगी के लिये अपथ्य होने से अहितकर सिद्ध होता है। अतएव भोजन को पथ्य और हितकर बनाने के लिये सर्वप्रथम शरीर मे से रोग निकालने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा मे मिथ्यात्व रूपी रोग रहता है, तब तक आत्मा दर्शन की आराधना नही कर सकता। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायेगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायेगा तभी दर्शन की आराधना हो सकेगी। मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नही रहेगा और जब मिथ्यात्व नही रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की

बात है। कषाय को दूर करनें से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नही कर सकेगा, इतना ही नही किन्तु जैसे अग्नि मे घो की आहुति देने से अग्नि अधिक तीव्र बनती है, उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यो प्रयत्न किया जायेगा, त्यों-त्यो धर्मश्रद्धा अधिक दृढ और तेजपूर्ण होती जायेगी। धर्मश्रद्धा मे किस प्रकार दृढ रहना चाहिये, इस विषय में कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोग शून्यता को ही मोक्ष कहते हैं। जैनशास्त्र ऐसा नही मानता। जैनशास्त्रो का कथन है कि आत्मा के कर्म आवरण हट जाने पर आत्मा की समस्त शक्तियो का प्रकट हो जाना और आत्मा का दु ख से विमुक्त होना ही मोक्ष है। आत्मा जब तक दु ख से विमुक्त नही होता तब तक उसे विविध प्रकार के दु ख भोगने ही पडते हैं। श्री भगवती सूत्र मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि-'हे भगवन्! दु खी दु ख का स्पर्श करता है या सुखी दु ख को स्पर्श करता है ?' इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा 'हे गोतम! दु खी ही दु.ख से स्पष्ट होता है, सुखी दु ख से स्पृष्ट नही होता।' इसके बाद चौवीस दंडको का विचार करते हुये देवो के प्रश्नोत्तर मे उन्हे भी दु खी कहा है। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि देवलोक में देवो को तो दिव्य सुख प्राप्त है, फिर उन्हे दु.खी क्यो कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म स्वय दु.ख-

रूप है और देव कर्म से विमुक्त नही हैं, अत उन्हें भी दुखी कहा है। यह बात अलग है कि सातावेदनीय कम के उदय से उन्हे कर्मो का दुख जान नही पडता, परन्तु शुभ या अशुभ कम, दुख के ही कारण है और इसी कारण उन्हे भी दु.खी कहा गया है।

गले मे सेर-दो सेर लोहा लटका लिया जाये तो दु.ख प्रतीत होगा, किन्तु उतने ही वजन का सोने का हार गले मे पहन लिया जाये तो दुख नही मालूम होगा। इसका कारण यह है कि तुम्हे सोने के प्रति अनुराग है, अन्यथा वजन की दृष्टि से तो सोना और लोहा समान ही हैं। फिर भी सोने के प्रति अनुराग होने के कारण लोग उसका भार वहन करते है। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूं:—

एक सुखी सेठ था। उसके एक सुशील और विनीत पुत्र था। माता-पिता को वह अत्यन्त प्रिय था। युवावस्था आने पर एक रूपवती कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह किया गया। विवाह के पश्चात् उसका गृहससार चलने लगा। बहू भी घर का काम-काम करती और सास-ससुर के प्रति विनयपूर्वक व्यवहार करती थी। पर उसके मन मे यह अभिमान रहता था कि मै सम्पन्न घर की कन्या हूं और मैंने मायके मे यहाँ की अपेक्षा अधिक सुख भोगे है। भीतर ही भीतर इस प्रकार का अभिमान होने पर भी ऊपर से वह सभी के प्रति सद्व्यवहार करती थी।

एक दिन पिता और पुत्र जीमने बैठे थे। उस समय सेठानी ने अपनी बहू से कहा– 'बहू' अमुक चीज पीसनी है, जरा सिला और लोढा तो ला दे। बहू विचार करने

लगी-मैं ऐसे बडे घर की लडकी हू और सास मुझ पर इस तरह हुक्म चलाती हैं- मुझसे सिला और लोढा उठा लाने को कहती हैं ! इस प्रकार विचार कर वह बोली- सिला और लोढा उठा लाने का काम तो मायके में भी मैंने कभी नही किया है । सासु नें शान्त स्वर मे कहा-ठीक है तुम बैठो ! मैं उठाये लाती हू । इतना कह कर सासु सिला और लोढा उठा लाई और पीसने की चीज पीस ली । सासु ने तो ऐसा किया मगर पुत्र को अपनी पत्नी का यह असद्-भावपूर्ण व्यवहार दिल मे बुरी तरह खटका । वह मन हा मन विचारने लगा-पत्नी कहती है कि शिला और लोढा उठाने का काम तो मैंने मायके मे भी नही किया, तो यहाँ क्यो करूँ । इसके कहने का आशय यह है कि उसके बाप का घर वडा है और यह घर छोटा है । इसने अपने बाप के बडे घर के अभिमान मे आकर ही मेरी माता को असद्-भावपूर्ण उत्तर दिया है । उसका यह अभिमान किसी भी उपाय से दूर करना चाहिये ।

लडका समझदार था । उसने सोचा- कटुक वचन कहने से अथवा मारपीट करने से उसका स्वभाव नही सुधरेगा । किसी अन्य युक्ति से ही उसका सुधार करना उचित है । एक दिन उसने बाजार मे एक हार विकता देखा । इसी से पत्नी का सुधार करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसने हार खरीद लिया और सुनार को बुलाकर कहा- इस हार के बीच मे एक बडा-सा कड़ा डाल दे और उसमे सोने की अढाईसेरी डालकर उसे सोने से ऐसा मढ दे कि वह एक दम सोने का ही मालूम होने लगे । सुनार ने उसके कथनानुसार हार तैयार कर दिया । लड़का हार लेकर घर

आया।

रात्रि के समय उसने पत्नी से कहा - 'तुम्हारे लिये एक चीज लाया हू, मगर तुम्हारा शरीर बहुत नाजुक है। मालूम नही वह तुम्हे रुचेगी या नही ?' पत्नी ने पूछा- 'क्या चीज है ?' उसने कहा- 'हार है, मगर भारी बहुत है, तुम्हारा शरीर नाजुक है। हार का भार सभाल सकेगा या नही, शका ही है।' पत्नी बोली- 'दिखाओ तो सही, कैसा है वह हार !' उसने, उत्तर दिया-'उस ट्रक मे रखा है। निकाल लाओ और देख लो।' बहू ने हार देखा तो बहुत पसन्द किया। प्रसन्न होकर वह कहने लगी- यह हार इतना क्या भारी है ! मैंने अपने पिता के घर तो इससे चौगुने भारी हार पहरे हैं।' उसने कहा-'ठीक है। तुम्हे रुचता हो और उठा सकती हो तो पहनो। हार भारी है और तुम नाजुक हो, जरा इसका खयाल रखना।' बहू ने उपालभ के स्वर मे कहा- 'यह क्यो नही कहते कि रोज पहनने से हार घिस जाएगा। मै तो पहले ही कह चुकी हू कि मैंने इससे चार गुने भारी हार अपने पिता के घर पहने है।' उसने कहा- 'मैं तो तुम्हारी दया के खातिर ही यह कहता हू। अगर तुम हार का बोझ उठा सकती हो तो रोज पहनो। उसके लिए मेरी कोई मनाई नही है।'

वह रोज हार पहनने लगी। पहले के लोग घर का काम-काज हाथ से ही करते थे। आज यह स्थिति है कि थोडा धन हुआ नही कि घर का कामकाज करना छोड दिया और नौकरो से काम कराने लगे। इस प्रकार आज के लोग दूसरो से काम कराने मे ही अपनी श्रीमताई समझते है, मगर पहले के लोग श्रीमत होने पर भी अपने हाथो अपना

काम करने में गौरव मानते थे ।

वह बहू भी पीसना, पानी भरना वगैरा सब घरू काम अपने ही हाथ से करती थी । जब वह पीसने बैठती तो वह हार उसकी छाती से टकराता और लगता भी सही, पर आभूषण पहनने के लोभ से वह हार पहने हो रहती, उतारती नही ।

सेठ के लडके ने विचार किया–मेरी पत्नी आभूषणों के लोभ की मारी हार छोडती नही है, मगर बहुत दिनों तक उसे भुलावे में रखना ठीक नही है । ऐसा विचार कर उसने लोहे पर चढाया हुआ सोने का पतरा एक जगह से उखाड दिया और वह सो गया ।

सुबह बहू ने पहनने के लिए हार उठाया तो उसने देखा– सोने के पतरे के नीचे लोहा है । देखते ही वह बोली– 'हाय ! मुझे कैसा बेवकूफ बनाया ! यह किस समय का वैर भजाया है ?' लडके की नीद खुल गई । पूछा– 'क्या हुआ ?' पत्नी बोली— 'मैंने ऐसा क्या बिगाड किया था कि इतना भारी लोहा मेरे गले मे डाला ?' सेठ के लडके ने कहा– 'मैंने तो पहले ही कह दिया था कि हार बहुत भारी है ।' पत्नी बोली– 'मगर मैं इसे लोहे का नही सोने का समझी थी ।' वह बोला – 'क्या लोहे मे ही वजन होता है सोने मे नही होता ? तुमने उस दिन तो कहा था कि इससे चौगुने भारी हार तुमने अपने मायके मे पहने हैं, और आज इतने से वजन के लिए चिल्लपों मचा रही हो । तुमने इतने दिनों तक तो इस हार का भार छाती पर वहन किया, मगर उस दिन मेरी माता ने सिला और लोढा उठाने को

कहा तो तुमने जवाब दिया कि मैंने अपने बाप के घर भी पत्थर उठाने का काम नही किया है ! अब इस घटना से कुछ समझो और 'मैं बडे घर की बेटी हू' यह अभिमान छोड दो । मैं तुम्हारे मायके का अभिमान नही सह सकता और न अपने माता-पिता का ही अपमान सह सकता हू । मैं तुम्हे कष्ट देना नही चाहता, सिर्फ इतना कहना चाहता हू कि तुम समय को पहचानो और झूठा अभिमान मत करो ।'

पत्नी कुलीन थी । इस घटना से वह आगे के लिए सावधान हो गई ।

इस उदाहरण द्वारा तुम भी समझ लो कि अनादिकाल से तुम जो कष्ट सहते आते हो, उन्हे भूलकर उस बहू की तरह समझते हो कि तुमने कष्ट सहे ही नही है । यह भूल है । आज तुम्हे पता नही है कि भूतकाल मे तुमने कितने कष्ट सहन किये है और आज भी जिसे तुम सुख समझ रहे हो उसके पीछे क्या और कितना दु:ख रहा हुआ है ! यह भी तो देखो ।

कहने का आशय यह है कि भार की दृष्टि से जैसे लोहा और सोना समान ही है, उसी प्रकार ससार का दु:ख भी दुःख ही है और ससार का सुख भी दु:ख है । जब देवो को भी दु:खी कहा गया है तो ससार मे कौन अपने आपको सुखी कहने का दावा कर सकता है ? ससार के पदार्थों में सुख होता तो साधु-साध्वी आभूषण देने पर क्यो न लेते ? जिन गहनो में तुमने सुख मान रखा है, वह गहने साधु को दोगे तो वह स्वीकार नही करेंगे, क्योकि वह गहने मे सुख नही मानते, बल्कि दु:ख ही मानते हैं । इसी कारण तुम

साधु-साध्वी के चरणों में झुकते हो। साधु-साध्वी अगर हार या माला पहनने लगें तो तुम उन्हे नमस्कार करोगे? नही। अतएव तुम ससार के सुख को भी दुःख ही समझो। साधुओ की तरह ससार की चीजों का त्याग न कर सको तो कम से कम इतना तो मानो कि ससार के पदार्थ सुख-दायी नही, दुखरूप हैं। और ऐसा मानकर सोने-चादी आदि के लिए धर्म का त्याग मत करो।

तात्पर्य यह है कि संवेग से अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है अनुत्तर धर्मश्रद्धा से अनन्तानुबधी कषायों का नाश होता है और इससे नवीन कर्मों का बध नही होता। जब नये कर्मो का बध नही होता और पुराने कर्मो का क्षय हो जाता है तो आत्मा सिद्ध, बुद्ध मुक्त होकर समस्त दु खो से रहित बन जाता है। इसलिए सवेग मे उद्योग करो। उन्मार्ग में आरूढ होकर तो अनेको बार कष्ट सहन किये हैं परन्तु सन्मार्ग में आरूढ होकर एक वार भी कष्ट भोग लोगे तो सदा के लिए कष्ट-रहित बन जाओगे अतएव ससार के सुख को भी दु:ख ही मानो और ससार के दु.ख तथा सुख दोनो से ही मुक्त होने का प्रयत्न करो।

ससार मात्र हेय है फिर चाहे वह सत्सग हो या दु.सग हो। लेकिन जब दु सग का त्याग न हो सकता हो तो सत्सग करना आवश्यक और आदरणीय है। इसी प्रकार कर्म मात्र त्याज्य है, फिर चाहे वह सातावेदनीय हो। कर्म दु ख रूप ही है। ससार के सर्वश्रेष्ठ सुख भोगने वाले देवो को भी भगवान् ने सुखी नही माना। उन्होने कहा है -

ण हि सुहो देवता देवलोए, ण हि सुही पुढवीवई राया।
ण हि सुहो सेठसेणावई, एगत सुही मुणी वीयराई॥

अर्थात्—देवलोक के देवता भी सुखी नही हैं, पृथ्वी का अधीश्वर राजा भी सुखी नही है, सेठ, सेनापति भी सुखी नही है, सिर्फ वीतराग मुनि ही एकान्त सुखी है।

इस प्रकार ससार के पदार्थो में फसे हुए कोई भी जीव सुखी नही माने गये हैं। वास्तव मे सुखी वही है जो कर्म नष्ट करता है। इसलिए एकान्त रूप से सुखी बनने के लिए अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा करो और कर्मों का नाश करो। जो पुरुष अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा करके कर्मों का नाश करता है, वह इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है। कर्म शेष रह जाने के कारण अगर इसी भव मे मोक्ष न हो तो तीसरे भव मे मोक्ष होता है। भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है— 'भगवन् ! दर्शन का उत्कृष्ट आराधक कब मोक्ष जाता है ? भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा है— जघन्य उसी भव मे और उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष जाता है।' इस उत्तर से स्पष्ट है कि चाहे उसी भव मे मोक्ष हो, चाहे तीसरे भव मे, मगर अनुत्तर धमश्रद्धा व्यर्थ नही जाती। फल चाहे जब मिले किन्तु कोई भी सत्कार्य निष्फल नही होता। गीता में कहा है—

न हि कल्याणकरः कश्चित् दुर्गति तात ! गच्छति ।

अर्थात्—कल्याणकारी कार्य कदापि व्यर्थ नही जाता। बोया हुआ धर्म-बीज चाहे अभी उगे या देर से, किन्तु उगे बिना नही रहता।'

'आजकल तो धर्म मे भी बनियापन काम में लाया जाता है। जैसे व्यापारी नकद रुपया देकर चीज खरीदने वाले ग्राहक पर प्रसन्न रहता है उसी प्रकार लोग धर्म के

द्वारा तात्कालिक फल की आशा रखते हैं। उनका कथन है कि धर्म का फल तत्काल मिल जाये तब तो ठीक है, अन्यथा कौन जाने परलोक मे फल मिलेगा या नही ? इस प्रकार धर्म पर अविश्वास रखने से फल की हानि होती है। धर्म का फल भले ही परपरा से मिले किन्तु उसका फल अवश्य मिलता ही है। किसी की भूख भोजन का एक ही कौर खाने से नही मिट जाती। पहले कौर से भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और भोजन के कौर से मेरी भूख मिट जायेगी, ऐसा विश्वास पैदा होता है। ऐसे विश्वास के साथ ही आगे भोजन किया जाता है और इसी प्रकार भूख शात हो जाती है। यही बात धर्म के विषय मे है। धर्म के नीतिरूपी कौर से यत्किंचित् जीवनशान्ति की भूख शान्त होती है तो धर्म का पालन करने से आत्मसतोष भी होगा और जीवन की शान्ति भी प्राप्त होगी।

धर्म का पहला कौर नीति है। अगर नीति के पालन से शान्ति मिलती है तो धर्म को जीवन में अधिक स्थान देना चाहिये और नीतिमय जीवन के साथ धर्ममय जीवन भी बनाना चाहिए।



दूसरा बोल

निर्वेद

जिसके अन्त करण मे सवेग जागृत हो जाता है, वह वचनवीर ही नही रहता, वरन् अपने विचारो को मूर्त्त रूप देकर कार्यवीर बनता है । वास्तव मे वही सच्चा वीर पुरुष है जो कहने के अनुसार कर दिखलाता है मुँह से कह देने मात्र से कोई लाभ नही हो सकता । अच्छे कार्य को जीवन में अवतरित करने से ही आत्मा को लाभ पहुँचता है अतएव जिसमे सवेग की जागृति हुई होगी वह वचनवीर ही नही रहेगा किन्तु अपने वचन के अनुसार कार्य करके वतलाएगा ।

भगवान् कहते है– मोक्ष को अभिलापा उत्पन्न होने पर सवेग पैदा होगा और सवेग पैदा होने पर निर्वेद अर्थात् विषयो के प्रति उदासीनता उत्पन्न होगी । अतएव अव निर्वेद के विपय मे विचार किया जाता है ।

मूल पाठ

प्रश्न–निव्वेएणं भते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर–निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चाय करेई, आरभपरिच्चायं करमाणे संसारमग्ग वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गपडिवन्ने भवइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न–हे भगवन् ! निर्वेद से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–निर्वेद से देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगो मे शीघ्र ही उदासीनता आ जाती है, सब विषयो मे विरक्ति आ जाती है, आरम्भ का त्याग करके ससार के मार्ग को रोक देता है और मोक्ष मार्ग मे आरूढ होता है ॥२॥

व्याख्यान

सम्यक्त्वपराक्रम का यह दूसरा बोल है। इसमे यह बतलाया गया है कि सवेग उत्पन्न होने पर निर्वेद उत्पन्न होता ही है। मोक्ष की तीव्र अभिलाषा जाग उठने पर सासारिक सुख रुचिकर नही होते।

'सवेग और निर्वेद वर्णन करने के लिए ही दो वस्तुएँ हैं, बाकी तो सवेग उत्पन्न होने पर निर्वेद उत्पन्न होता ही है। जसे जीवो की रक्षा करना सयम है और जीवों की हिंसा न करना अहिंसा है, उसी प्रकार मोक्ष की अभिलाषा होना सवेग है और सासारिक भोगोपभोगो के त्याग की अभिलाषी होना अर्थात् ससार से विरक्ति पाना निर्वेद है। इस प्रकार सवेग और निर्वेद मे अविनाभाव सबध है।'

निर्वेद क्या है, इस विषय मे जरा विचार करना चाहिए। निर्वेद का अर्थ करते हुए टीकाकार का कथन है–'ससार के विषयभोग त्यागने की अभिलाषा करना ही निर्वेद है।' यद्यपि निर्वेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है, तथापि निर्वेद का सामान्य अर्थ इन सभी भेदो में घटित होता है।

निर्वेद जीवन के लिये अत्यन्त अनिवार्य वस्तु है। बिना निर्वेद के किसी का भी कार्य नही चल सकता। यह बात दूसरी है कि किसी मे जघन्य निर्वेद हो, किसी में मध्यम हो और किसी मे उत्कृष्ट हो, मगर निर्वेद के अभाव मे जीवनव्यवहार चल नही सकता, यह अनुभवसिद्ध बात है। उदाहरण के लिये-मान लीजिए आप भोजन करने बैठे है। इतने मे आपके किसी विश्वासपात्र मित्र ने आकर कहा– इस भोजन मे विष है। ऐसी स्थिति मे आप वह भोजन करेंगे ? कडाके की भूख लगी होगी तो भी आप वह भोजन नही करेंगे। इसका कारण यह है कि भोजन मे विष होने का ज्ञान होने पर आपको उसके प्रति निर्वेद हो जाता है। इसी प्रकार वस्तु के विषय मे सच्चा विवेक उत्पन्न होने पर सभी को निर्वेद उत्पन्न होता है और निर्वेद के बिना जीवन-व्यवहार चल नही सकता। मगर जिस निर्वेद के साथ संवेग होता है उस निर्वेद की शक्ति तो गजब की होती है। ज्ञानीजनो मे संवेग के साथ ही निर्वेद होता है। जिस भोजन मे आप विष समझते हैं उसका जिस प्रकार त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीपुरुष संसार के विषयसुख मे विष मानते है और इसी कारण उन्हे सासारिक सुखों पर निर्वेद उत्पन्न हो जाता है।

विषय दो प्रकार के होते है-एक वह जो आँखो द्वारा देखे गये है और दूसरे वह जो आँखो से तो नही देखे, सिर्फ कान द्वारा सुने गये हैं। आँखो से देखे जाने वाले विषयसुख तो परिमित ही होते हैं, मगर कानो से सुने जाने वाले विषयसुखो की सीमा ही नही होती। इसी कारण ज्ञानीजनो ने कहा है कि स्वर्ग, देवलोक आदि का ज्ञान होना तो अच्छा है,

मगर उस ज्ञान के साथ वैराग्य अवश्य होना चाहिए। जब वैराग्य होगा तो निर्वेद अवश्य होगा और इस दशा मे देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि के विषयभोगो के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। *ज्ञान के साथ अगर वैराग्य न हुआ तो आत्मा* स्वर्ग आदि के प्रलोभनो मे पड जायेगा। अतएव इस प्रकार के ज्ञान के साथ वैराग्य होना आवश्यक है। वस्तुत. 'ज्ञानस्य फल विरति.' अर्थात् ज्ञान का फल वैराग्य ही है।

शास्त्रकारो ने स्वर्ग का और स्वर्ग के सुखो का वर्णन करके अन्त मे यही कहा है कि स्वर्ग या स्वर्ग के इन सुखो के लिये प्रयत्न मत करो। देवलोक के सुखो के प्रलोभन मे मत पड जाओ। अगर दिव्य सुखो के लालच मे फँस गये तो मोक्ष नही प्राप्त कर सकोगे। इस समय हम लोग स्वर्ग नही देख रहे है, सिर्फ शास्त्रो द्वारा ही वहा की स्थिति जानते हैं कि वहाँ ऐसे-ऐसे सुख है। इन सुने जाने वाले भोगो पर लालच मत लाओ और जब स्वर्ग के सुखों पर भी ललचाना उचित नही है तो फिर मनुष्य सबधी भोगो पर ललचाना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? श्रीपन्नवणासूत्र मे कहा है कि देवलोक के देवता भी तिर्यंचो के साथ भ्रष्ट हो जाते है। कहाँ देव और कहाँ तिर्यंच ! मगर जब काम का वेग उत्पन्न होता है तो देवता वेभान हो जाते है और अन्त मे भ्रष्ट हो जाते है। ऐसा होने पर भी वास्तव मे कामभोग त्याज्य ही हैं। अतएव अन्त करण में सवेग के साथ निर्वेद धारण करके देव, मनुष्य और तिर्यंच सबधी किसी भी प्रकार के विषयभोगो पर ललचाना उचित नही है। देवो को देवलोक के भोगो से तृप्ति नही होती तो वह तिर्यंचो के साथ भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे कोई इन भोगो से किस प्रकार

तृप्त हो सकता है ! भोगो की लालसा तो वह आग है जो ईंधन देने से कभी तृप्त नही होती वरन् अधिकाधिक बढती ही चली जाती है । अतएव सवेगपूर्वक निर्वेद धारण किये विना हमारे लिए दूसरा कोई चारा ही नही है । जिसके भोग से अनन्त काल तक भी तृप्ति नही हो सकती, उसका त्याग करके ही तृप्ति का आनन्द उठाना उचित है । शास्त्रकारो ने कहा है

कणकुडग चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरो ।
एव सीलं चइत्ताण, दुस्सीले रमई मिए ॥

उत्तरा० १–५

अर्थात् शूकर के सामने चावलो का थाल होने पर भी अगर उसे विष्ठा दीख जाये यो वह चावलो का थाल छोडकर विष्ठा खाने दौडता है, इसी प्रकार दुश्शील लोग, शील का त्याग कर कुशील का सेवन करने दौडते हैं । शूकर को चावल का थाल छोडकर विष्ठा खाने के लिए दौडता देखकर आपको क्या अच्छा लगेगा ? आपको अच्छा लगे या न लगे, शूकर को तो विष्ठा ही अच्छी लगती है। उसे विष्ठा अच्छी न लगती तो वह चावल का थाल छोडकर विष्ठा खाने दौडता ही क्यो ? मगर उसकी यह कैसी भूल है ! इसी प्रकार क्या उन लोगो की भूल नही है जो शील का त्याग कर कुशील का सेवन करते है !

आज हम लोग मनुष्य-भव में हैं, इस कारण हमें शूकर का यह कार्य बुरा लगता है और हम उसकी निंदा करते है । मगर उसकी निंदा करके ही वस मत करो । आप अपने कार्यों को भी देखो । कही आप भी तो इसी प्रकार का कोई कार्य नही कर रहे है ? ज्ञानीपुरुषो का कथन है कि

ससार के समस्त सुख विष्ठा के ही समान हैं। इन पर ललचाना क्या शूकर के ही समान कृत्य नही है ? जब ससार के सुख विष्ठा के समान खराब और अरुचिकर प्रतीत होने लगे तब समझना चाहिए कि निर्वेद हमारे हृदय मे जागृत हो गया है। किसी के कहने से थोडी देर के लिए निर्वेद उप्पन्न होना दूसरी बात है, मगर यदि सवेग के साथ निर्वेद उत्पन्न हो अर्थात् अन्तर से सासारिक सुख विष्ठा के समान त्याज्य प्रतीत होने लगे और यह भाव स्थायी बन जाये तब समझना चाहिए कि हमारे हृदय मे सच्चा निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

सचाई यह है कि आज हम लोगो की आत्मा भी शूकर के समान ही भूल कर रही है। क्या हमारी आत्मा सद्‌गुणो का त्याग कर दुर्गुणो की ओर नही दौडती है ? यह भूल क्या शूकर की भूल से कुछ कम है ? नही, वरन् कई दृष्टियो से शूकर की भूल की अपेक्षा भी अधिक भय-कर है अगर कोई मनुष्य अपना शरीर मल से लिप्त करे तो सरकार उसे दड नही देती, लेकिन दुर्गुण, दुराचार की तो शास्त्र मे भी निंदा की गई है और दुर्गुण-दुराचार वाले को सरकार भी दड देती है। विष्ठा से बाह्य अशुचि ही मानी जाती है और वह सरलता से दूर भी की जा सकती है, मगर दुर्गुणो से आन्तरिक अपवित्रता उत्पन्न होती है और वह वडी कठिनाई से हटाई जाती है, यहाँ तक कि भव-भवान्तर तक भी नही मिटती। इस प्रकार दुर्गुण विष्ठा से भी अधिक बुरे हैं। ऐसी स्थिति में सद्‌गुण त्याग कर दुर्गुण ग्रहण करना एक प्रकार की शूकरवृत्ति ही कही जा सकती है।

शास्त्र मे यह उपदेश प्रधानतया साधुओ के लिए है।

उन्ही से यह कहा गया है कि जैसे विष्ठा स्वेच्छापूर्वक त्यागी हुई वस्तु है उसी प्रकार सासारिक विषयसुख भी स्वेच्छा-पूर्वक त्यागी हुई चीज है। आत्मिक सुख का भोग देकर विषय-सुखो की इच्छा मत करो। तुम्हारे लिए यह विष्ठा से भी अधिक बुरे हैं। तुम्हारे अन्त करण में इन विषयभोगो के प्रति निर्वेद उत्पन्न होगा अर्थात् इनके त्याग के लिए तीव्र वैराग्य होगा तभी तुम्हारा त्याग टिक सकेगा। 'त्याग वैराग्य के बिना नही टिकता' इस कथन के अनुसार त्याग के साथ निर्वेद होना आवश्यक है। जीवन मे निर्वेद-सच्चा वैराग्य होने पर हो साधुता स्थिर रह सकती है। जिस वस्तु के प्रति एक बार हृदय मे तीव्र घृणा उत्पन्न हो जाती है, बुद्धिमान् पुरुष उसे फिर ग्रहण नही करते। इस विषय मे कथा-ग्रन्थो में एक उदाहरण आया है। प्रासगिक होने के कारण आपको सुनाता हू।

किसी सेठ के ललिताग नामक पुत्र था। ललिताग अपने नाम के अनुसार सुन्दर और गुणवान् था। एक बार वह कही बाहर जा रहा था कि अपने महल मे से रानी ने उसे देखा। ललिताग को देखकर रानी सोचने लगी—'यह कुमार बडा ही ललित– सुन्दर है। ऐसे सुन्दर पुरुष के बिना नारी का जीवन निरर्थक है। किसी भी उपाय से इसे प्राप्त करना ही चाहिये।' इस प्रकार विचार कर रानी ने अपनी एक विश्वासपात्र दासी भेजी और उसे गुप्त मार्ग द्वारा महल में बुलाया। रानी ने अपनी मादकतापूर्ण कामदृष्टि से ललिताग को मुग्ध कर दिया। रानी का सौन्दर्य देखकर ललिताग भी उस पर मोहित हो गया। वह इतना मुग्ध हुआ कि अपने घरबार का भी खयाल उसे न

रहा ।

ललितांग को अपने कब्जे में करके रानी ने उसके साथ विषयभोग करने की तैयारी की। इसी समय रानी को महल मे राजा के आगमन की सूचना मिली। यह सूचना मिलते ही रानी का मुँह उतर गया। रानी की अचानक यह उदासीनता देखकर ललितांग ने पूछा— 'अभी-अभी तो मेरे साथ तुम हँस बोल रही थी और अब एकाएक उदासीन हो गईं। इसका क्या कारण है?' रानी ने उत्तर दिया— 'उदासी का कारण यह है कि राजा महल मे आ रहा है। अब क्या करना चाहिये सो कुछ नही सूझता!' राजा के महल मे आने के समाचार सुनते ही ललितांग भय से कांपने लगा। उसने दीनतापूर्वक रानी से कहा— 'मुझे जल्दी से कही न कही छिपाओ। राजा ने मुझे देख लिया तो शरीर के टुकडे-टुकडे करवा डालेगा। क्षत्रिय का और उसमे भी राजा का कोप बडा ही भयकर होता है।' रानी बोली— 'इस समय तुम्हे कहाँ छिपाऊँ! ऐसी कोई जगह भी तो नही दीखती जहाँ छिपा सकूँ। अलबत्ता, पाखाने में छिपने लायक थोडी जगह है। राजा पाखाने की तरफ नजर भी नही करेगा और जब वह चला जायेगा तो मैं बाहर निकाल लूगी।'

पाखाने मे रहने की इच्छा किसे होगी? किसी को नही तो फिर सुगंध में रहने वाले ललितांग को पाखाने में रहना क्यो रुचिकर हुआ? इसका एकमात्र कारण था भय! पाप मे निर्भयता कहाँ? ललितांग पापजन्य भय के कारण पाखाने में छिपने के लिए विवश हो गया। रानी ने अपनी दासी से कहा— 'इन्हे पाखाने में छिपा आ।' रानी की

आज्ञा से दासी ने ललितांग के पैरों में रस्सी बाँधकर उसे उलटा लटका दिया। जब ललितांग को पाखाने में उलटा लटकाया गया होगा तो कौन जाने उसकी क्या दशा हुई होगी!

राजा, रानी के महल में आया और रानी के साथ कुछ खानपान करके लौट गया। रानी को या तो ललितांग की कायरता देखकर घृणा हुई या वह उसे भूल गई अथवा और कोई कारण हुआ, जिससे उसने पाखाने मे से ललितांग को नही निकाला। ललितांग को लटके-लटके बहुत समय व्यतीत हो गया।

पानी का निकास उसी पाखाने मे होकर था। वर्षा होने के कारण पाखाने मे जो पानी पहुँचा, उससे सूखा मल भी गीला हो गया और नीचे गिरने लगा। ललितांग उस मल से लिप्त हो गया। ऐसी मुसीबत मे फँसा हुआ ललितांग आखिर डोरी टूटने से नीचे गिर पडा और बेहोश हो गया।

महतरानी, जो राजा और ललितांग के भी घर काम करती थी, पाखाना साफ करने आई। जैसे ही वह पाखाना साफ करने भीतर घुसी कि ललितांग नजर आया। देखते ही वह पहचान गई। उसने सोचा– हमारे सेठ का कुमार ललितांग और यहा पाखाने मे पडा है! वह उल्टे पाँव सेठ के घर दौडी। सेठ मे कहा– तुम जिसकी चिन्ता करते थे, वह ललितांग कुमार तो राजा के पाखाने मे पडा है! सेठ सोचने लगा– ललितांग वहाँ किस प्रकार पहुँचा होगा! खैर, जो हुआ सो हुआ, मगर अभी तो उसे शीघ्र ही घर

लाना उचित है। सेठ कुछ आदमियो को साथ ले वहाँ पहुँचा और ललितांग को घर उठा लाया उस समय ललितांग की स्थिति अत्यन्त नाज़ुक थी, पर यथोचित उपचार कराने से वह मरते-मरते बच गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करके उसने अपनी पूर्व-स्थिति प्राप्त कर ली।

स्वस्थ होने के पश्चात् ललितांग घोडागाडी में बैठकर घूमने निकला। फिर रानी की दृष्टि ललितांग पर जा पडी। उसे देखते ही वह सोचने लगी– मैंने बहुत बडी भूल की ! यह पुरुष तो भोगनें योग्य है। यह सोचकर रानी ने फिर अपनी दासी उसके पास भेजी और महल में आनें के लिये कहलाया। मगर ललितांग, जो महान् दुःख एक बार भुगत चुका था, क्या दूसरी बार रानी के पास जानें को तैयार हो सकता था ? इस विषय मे तुम्हारी सलाह पूछी जाती तो तुम क्या सलाह देते ? नि.सन्देह प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष यही सलाह देगा कि जहा इतना भयकर कष्ट भोगना पडता है वहाँ हर्गिज नही जाना चाहिये।

ललितागकुमार को यह सलाह देने के लिए आप तैयार है, मगर जरा अपने सबंध मे भी तो विचार कर देखो ! ललितांग को जो काम न करने की सलाह दे रहें हो, वही काम आप स्वय तो नही करते है ? आपने अनेको बार इस प्रकार के कष्ट भुगते हैं फिर भी आपकी दशा और दिशा नही बदली। क्या आप माता के पेट मे उलटे नही लटके ? क्या वहा मल-मूत्र नही है ? गर्भ मे आप अपनी माता के आहार में से रसवाहिनी नाडी द्वारा थोडा-सा रस लेते थे। श्री भगवतीसूत्र मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फर्माया है कि गर्भ का बालक, माता के ग्रहण किये हुए

आहार में से रसवाहिनी नाडी द्वारा थोडा आहार अर्थात् एक देश का आहार ग्रहण करता है। ऐसा कष्ट थोड़े वहुत दिन नही, नौ महीने तक भोगना है। इतना ही नही, कभी-कभी तो वारह वर्ष या चौवीस वर्ष तक भी ऐसा कष्ट भोगना पडा है। यह कष्ट क्या एक डोरी के सहारे लटकने के समान कष्ट नही है? गर्भ मे वालक भी एक नाडी के सहारे ही लटकता रहता है फिर किसी पुण्य के प्रताप से या किसी सावन द्वारा उसका जन्म होता है। गर्भ से वाहर निकलते समय अगर सार-सँभाल करने वाला कोई न हुआ तो कैसी विडवना होती है? आज आप यह अभिमान करते है कि माता-पिता ने हमारे लिए क्या किया है? किन्तु तनिक अपनी गर्भावस्था या वाल्यावस्था के विपय मे विचार करो कि उस समय तुम्हारी क्या हालत थी? अगर माता-पिता ने उस समय आपको सँभाला न होता तो कैसी दशा होती?

माता-पिता के उपकार का विचार आने पर मुझे एक पुरानी कविता याद आ जाती है :—

डगमग पग टकतो नहीं, खाई न सकतो खाद।
उठी न सकतो आप थी, लेश हती नहि लाज ॥
ते अवसर आणी दया, वालक ने माँ—वाप।
मुख आपे दुख वेठीने, ते उपकार अमाप ॥
कोई करे एवा समै, वे घडी एक वरदास।
आखी उमर थई रहे, तो नर नो नर दास ॥

गर्भावस्था मे या वाल्यावस्था में घडी-दो घडी सहायता करने वाले सहायक का उपकार मनुष्य जितना माने,

उतना ही थोडा है। तो फिर जिन माता-पिता ने ऐसे समय मे सब प्रकार की सहायता और सुविधा प्रदान की है, उनका कितना अपरिमित उपकार है, इस बात का जरा विचार तो कीजिए !'

'गर्भस्थान के कारागार से हम लोग बाहर निकले और माता-पिता की छत्र छाया तले सुखपूर्वक बढते-बढते इस स्थिति मे आये हैं। यह स्थिति पाकर हमारा कर्त्तव्य क्या है, इस बात का जरा गहराई से विचार करना चाहिये। हम जिस कैदखाने मे बन्द रह चुके हैं, फिर उसी मे बन्द होना उचित है अथवा ऐसा मार्ग खोजना उचित है कि फिर कभी उसमें बन्द न होना पडे ? भगवान् ने सवेग के साथ निर्वेद का होना इसीलिए आवश्यक बतलाया है कि जिससे फिर कैद-खाने मे बन्द न होना पड़े। अतएव देवो, मनुष्यो और तिर्यचो के कामभोगो मे सच्चा सुख मत समझो। यह काम-भोग तो ससार-परिभ्रमण करने वाले है। इनसे निवृत्त होने मे ही कल्याण है। अगर ललिताग चतुर होगा तो वह फिर कभी ऐसा काम करेगा, जिससे पाखाने मे लटकना पडे ? और औधे मुँह लटकना पड़े ? यह कथा उपनय है। सभी ससारी जीव अनुभव कर चुके हैं कि उन्हे किस-किस प्रकार के कैदखानो मे कैसे-कैसे कष्ट भुगतने पड़े है। आप ललि-ताग को उपदेश देंगे कि दुख भोगने वहाँ क्यो जाता है ? लेकिन यही उपदेश अपनी आत्मा को दो कि-'आत्मन् ! तू शरीर-रूपी कैदखाने मे पड़ने के काम बार-बार क्यो करता है ?' दूसरो को उपदेश देने से ही तुम्हारा कुछ भी लाभ नही होगा, अपने आपको सुधारो। इसी मे कल्याण है।

निर्वेद के विषय में प्रश्न किया गया है कि-भगवन् !

निर्वेद का फल क्या है ? यह प्रश्न देखकर स्वभावत: यह शका उत्पन्न होती है कि यह प्रश्न उठा ही क्यों ? एक ओर तो निष्काम होकर धर्म करने का उपदेश दिया जाता है और दूसरी ओर निर्वेद के फल के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है । ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न यहाँ उठ खडे होते है । इनके उत्तर मे कहा जाता है कि फल जाने बिना मूर्ख पुरुष भी किसी काम मे प्रवृत्ति नही करता । फिर बुद्धिमान् पुरुष कैसे प्रवृत्ति कर सकते है ? इस उत्तर के बावजूद भी यह प्रश्न खडा ही रहता है कि एक ओर निष्काम कर्म करने का उपदेश देना और दूसरी ओर यह कहना कि फल खाये बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नही करता; इन दोनो परस्पर विरोधी बातो मे से कौनसी बात ठीक समझनी चाहिये ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि फल का इन्द्रियजन्य सुख के साथ सबध है और जिस फल को ज्ञानीजन अप्रशस्त समझते है, उस फल की आकाक्षा करने से पतन हो जाता है । अतएव इस प्रकार के फल के प्रति निष्काम-निरीह ही रहना चाहिए । ऐसे फल की कभी कामना नही करनी चाहिये । जैसे किसान निष्काम भाव से खेत में बीजारोपण करता है उसी प्रकार कामनाहीन बुद्धि से धर्म मे प्रवृत्त होना चाहिये । सासारिक सुख-रूप फल की कामना कदापि नही करना चाहिये । किसान को यह निश्चय नही होता कि मेरे बीजारोपण का परिणाम इस प्रकार का आएगा, मगर उसे यह विश्वास अवश्य होता है कि बीज अगर अच्छा है तो फल खराब नही आयेगा । यद्यपि किसान यह नही जानता कि मेरे बोने से कितना फल उत्पन्न होगा, फिर भी वह बीजारोपण करता ही है । इसी प्रकार व्या-

पारी को भी पहले से ही यह निश्चय नही होता कि मेरे व्यापार से मुझे इतना लाभ होगा, फिर भी वह व्यापार मे प्रवृत्ति करता ही है। हम लोगो को भी, इस लोक में अथवा परलोक मे ऐसा फल मिलेगा, ऐसी कामना से कार्य नही करना चाहिये, वरन् फल की परवाह न करते हुये कार्य करते रहना चाहिये। साराश यह है कि इन्द्रियजनित सुख की आकाक्षा न करना ही निष्काम कर्म करने का आशय है और फल को जाने बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नही करता, इस कथन का आशय यह है कि इन्द्रियजनित सुख-रूप नही किन्तु उससे पर अर्थात् अतीन्द्रिय सुखरूप और ज्ञानियो द्वारा प्रशसित फल को सामने रखकर ही कार्य मे प्रवृत्ति करनी चाहिये।

निर्वेद से क्या लाभ होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है— निर्वेद से देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी कामभोगो के प्रति अरुचि उत्पन्न होगी। जीवन मे निर्वेद उत्पन्न होते ही विचार आने लगता है कि कब मैं अनित्य और अशुचि के भडार के समान कामभोगो का परित्याग करूँ ! इस तरह सासारिक सुखो से निवृत्त होना निर्वेद का फल है।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न खडा होता है कि निर्वेद का जो फल बतलाया गया है वह तो स्वय ही निर्वेद है। कारण और उसका फल अर्थात् कार्य क्या एक ही वस्तु है ? कामभोगो के प्रति अरुचि होना निर्वेद है तब निर्वेद का फल क्या है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि इष्ट विषयभोग और अनुसर्गिक विषयभोग अर्थात् देखे हुए और सुने हुए

विपयभोगो से मन का निवृत्त होना — विषयभोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होना ही निर्वेद कहलाता है; परन्तु ज्ञानीजन इसी को निर्वेद का फल भी कहते हैं। कोई-कोई फल तत्कालीन होता है और कोई परम्परा से मिलता है। यहाँ तात्कालिक फल की चर्चा चल रही है, क्योकि फल जाने बिना मन्द लोग भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करते। अतएव यहाँ निर्वेद का तात्कालिक फल वतलाया गया है। निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना है। जब मन कामभोगो से निवृत्त हो जाये तो समझना चाहिए कि हमारे अन्दर निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

विद्याभ्यास करके ऊँची उपाधि प्राप्त की जाती है। यद्यपि उच्च उपाधि प्राप्त करने का उद्देश्य परम्परा से वकालत करना या डाक्टर बनना वगैरह भी हो सकता है। किन्तु वकील या डाक्टर वनना तो विद्या का पारम्परिक फल है। विद्या का तात्कालिक फल है—अविद्या का नाश होना, अज्ञान मिट जाना। अगर पढने मे श्रम किया जाये, फिर भी एक भी अक्षर पढते-लिखते न वने तो यही कहा जा सकता है कि इस दिशा मे किया गया प्रयत्न व्यर्थ गया। इसी प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल विषयभोगो की ओर से मन का हट जाना है। लेकिन ऊपर से वैराग्य दिखलाना और भीतर ही भीतर विषयलालसा को पुष्ट करना सच्चा निर्वेद या वैराग्य नही किन्तु ढोग है।

सच्चा निर्वेद या वैराग्य तभी समझना चाहिये जब विषयो पर विरक्ति हो जाये और अन्त करण में तनिक भी विपयो की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगो से मन का निवृत्त होना है।

भगवान् का कथन है कि जब जीवन मे निर्वेद उत्पन्न होता है तब ससार मे जितने भी विषयभोग हैं, उन सभी से मन निवृत्त हो जाता है। परन्तु कोई पुरुष विषयभोगो से निवृत्त हुआ है या नही, इसकी पहचान क्या है ? क्या कोई ऐसा चिन्ह है, जिससे निर्वेद की पहचान की जा सके ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसमे निर्वेद होता है और जो विषयभोगो से उपरत हो जाता है, वह आरम्भ-परिग्रह से भी मुक्त हो जाता है अर्थात् वह आरम्भ-परिग्रह का भी त्याग कर देता है।

अन्य प्राणियो को कष्ट देना आरम्भ है और पर पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह है। यह आरम्भ और परिग्रह का सक्षिप्त अर्थ है। आरम्भ और परिग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती है जब विषयभोगो से मन निवृत्त हो जाये और विषयभोगो से मन तब निवृत्त होता है जब आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया जाये। आरम्भ-परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग को स्वीकार करके भव-भ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का पारपरिक फल मोक्ष है और तात्कालिक फल विषयभोग से निवृत्ति है।

अब आप अपने विषय मे विचार कीजिए कि आप अपने जीवन मे निर्वेद उत्पन्न करना चाहते हैं या नही ? आप किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं ? किसलिए साधु की सगति करते है ? आत्मा को विषयभोगो से निवृत्त करने के लिए ही आप साधुओ की सगति करते है। साधु-सगति करने पर भी अगर आप विषयभोगो मे फँसे रहे तो यही कहना होगा कि आपने नाम मात्र के लिए ही साधुओ की

संगति की है। कहा जा सकता है, क्या यह संभव है कि साधु की संगति करने पर भी कोई विषयभोग मे फँसे रहे ? इसका उत्तर यह है कि कितनेक साधु भी विपयभोग मे फँस जाते है तो साधारण गृहस्थ को तो बात ही क्या है ?

'इसी भाँति, साधु को संगति या सेवा करने से अमुक वस्तु मिलेगी, इस प्रकार की इच्छा अगर मन में रही तो समझना चाहिए कि वह वास्तव मे साधु की संगति या सेवा नही वरन् पुद्गलो की संगति या सेवा है। ऐसी दशा में विषयभोगो मे अधिक फँसना ही स्वाभाविक है। साधु-संगति सच्ची तो तभी कही जा सकती है, जब साधु के समागम से हृदय मे पुद्गल प्राप्ति की भावना उत्पन्न न हो, बल्कि प्राप्त पुद्गलो को छोडने की आन्तरिक प्रेरणा पैदा हो।'

शास्त्र कहता है कि आरंभ–परिग्रह ही समस्त पापो का कारण है। अतएव साधु-संगति करके आरंभ-परिग्रह से बचने का प्रयत्न करो, उलटे उसमें फँसने की चेष्टा मत करो। अगर सासारिक पदार्थो को ज्ञान की दृष्टि से देखा जाये तो उनमे फँसने की अभिलाषा ही न होगी। संसार के पदार्थ कामी पुरुषो के चित्त मे कामना उत्पन्न करते हैं और ज्ञानी पुरुषो के मन में ज्ञान पैदा करते है। उदाहरण के लिये, कल्पना कीजिये, एक वेश्या सिंगार सजकर बाजार मे निकली है। प्रथम तो ज्ञानी पुरुष उसकी ओर दृष्टि ही नही करेगा। कदाचित् अचानक नजर चली जायेगी तो वह विचार करेगा– 'इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ऐसा अनुपम सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। किन्तु बेचारी मोह मे पड़कर अपना इतना सुन्दर शरीर थोड़े-से पैसो के बदले बेच

देती है–जो चार पैसे देता है उसी को सौंप देती है। यह कैसी मोहदशा है ! अगर इसने अपना शरीर परमात्मा के पवित्र चरणो मे अर्पण कर दिया होता और धर्मध्यान किया होता तो क्या इसका कल्याण न हो गया होता ?' इस प्रकार विचार कर ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान की वृद्धि करते है। किन्तु अज्ञानी पुरुष वेश्या को देखकर तरह-तरह के कुत्सित और मलीन विचारो मे डूब जाते हैं और पाप का उपार्जन करते है। इस प्रकार सासारिक पदार्थ ज्ञानियो का ज्ञान बढाते है और अज्ञानियो का अज्ञान बढाते है।

ज्ञानी पुरुष पदार्थ का मूल खोजते है। एक उपदेशक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अगर 'स्त्रियो को देखकर हम अपने हृदय में उठने वाले खराब विचारो को नही रोक सकते तो ऐसी स्थिति मे अपनी आँखो को फोड डालना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है।' इस उपदेश के अनुसार घटित हुई घटना भी सुनी जाती है। कहा जाता है कि सूरदास ने इसी विचार से अपनी आँखे फोड ली थी। इस प्रकार किसी भी वस्तु के विषय मे अगर ज्ञानपूर्वक विचार करने की क्षमता न हो तो उस वस्तु की ओर दृष्टि न देना ही उचित है। ऐसा करते-करते मोह कम हो जायेगा। वीतराग भगवान् किस चीज को नही देखते ? उनकी दृष्टि मे सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। इस विचार को सामने रखकर किसी भी पदार्थ को देखकर वीतराग का ध्यान करना चाहिये और व्यवहार के लिये उन पदार्थों की ओर से आँख–कान फेर लेना चाहिये।

श्री ज्ञातासूत्र में कहा है– सुकुमालिका ने ग्वालिका सती से कहा कि मैं बड़ी ही दुखिनी हूं, क्योकि मुझे कोई

भी पुरुष नही चाहता। तुम गाँव-गाँव घूमती हो। ऐसा कोई उपाय जानती हो तो बताओ जिससे पुरुष मुझे चाहने लगें। सुकुमालिका की यह बात सुनकर ग्वालिका सती ने अपने कानो मे उँगलियाँ डालकर कहा– 'बहिन ! उपाय बतलाना तो दूर रहा, मुझे ऐसी बात सुनना भी नही कल्पता। मैं तो सिर्फ वीतराग-मार्ग का ही उपदेश दे सकती हू।' सती की यह बात सुनकर सुकुमालिका सोचने लगी 'वीतराग के मार्ग में कोई विशेष चमत्कार होगा, तभी तो यह सती कहती है कि मैं वीतराग-मार्ग का ही उपदेश दे सकती हूं! मुझे कोई पुरुष नही चाहता तो न सही। धर्म तो सभी को स्थान देता है। मुझे भी देगा ही।' इस तरह विचार कर सुकुमालिका ने ग्वालिका सती से कहा– आपको उस मार्ग का उपदेश देना नही कल्पता तो वीतरागमार्ग का उपदेश देना तो कल्पता ही है! मुझे उसी का उपदेश दीजिये।' ग्वालिका सती ने उसे कैसा और क्या उपदेश दिया था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, परतु ग्वालिका का उपदेश सुनकर सुकुमालिका इसी निश्चय पर आई कि अब किसी भी पुरुष को यह शरीर न सौंपकर सयम के सेवन मे ही इसे लगा देना उचित है।

कहने का आशय यह है कि ऐसी बातें सुनने का अवसर आये तब कान में उँगली डाल लेना ही उचित है। ऐसा प्रसग तुम्हारे सामने उपस्थित होता है या नही, यह तो मुझे मालूम नही; पर हम साधुओ के समक्ष तो बहुत वार ऐसे अवसर आते रहते हैं।

प्रस्तुत सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन मे यहाँ तक सवेद और निर्वेद का विचार किया गया है। इन दोनों

बोलों के सम्बन्ध मे जो कहा गया है, उसका सार यही है कि सवेग से निर्वेद उत्पन्न होता है और निर्वेद से धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। अर्थात् जिस व्यक्ति मे सच्चा सवेग होता है उसमें निर्वेद अवश्य होता है और जिसमे निर्वेद होता है उसमे धर्मश्रद्धा अवश्य होती है। इस प्रकार सवेग, निर्वेद और धर्मश्रद्धा मे पारस्परिक सम्बन्ध है। आगे सम्यक्त्व-पराक्रम के तीसरे बोल के विषय मे विचार किया जाता है।



तीसरा बोल



-: धर्मश्रद्धा :-

प्रश्न-धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ !

उत्तर-धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, आगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहनिव्वत्तेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न-भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-धर्मश्रद्धा से साता और सुख मे अनुराग करने वाला जीव उससे विरक्त हो जाता है, गृहस्थधर्म का त्याग करता है और अनगार वन जाता है । अनगार वना हुआ जीव शारीरिक और मानसिक तथा छेदन, भेदन, सयोग आदि दुःखो का नाश करता है और अव्यावाध सुख प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

उल्लिखित सूत्र में धर्मश्रद्धा के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है । मगर धर्मश्रद्धा के फल पर विचार करने

से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि धर्मश्रद्धा क्या है? धर्मश्रद्धा का स्वरूप समझ लेने पर उसका फल समझना सरल होगा।

जिस फल को उद्देश्य बनाकर कार्य किया जाता है, वह फल न मिला तो कार्य निष्फल माना जाता है। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य ने फल की प्राप्ति के उद्देश्य से वृक्ष रोपा। अब उसे यदि फल प्राप्त न हो सके तो वह यही मानेगा कि मेरा वृक्षारोपणकार्य व्यर्थ हो गया। इस प्रकार धर्मश्रद्धा का फल क्या है, यह देखने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि अमुक व्यक्ति मे धर्मश्रद्धा है या नही ?

आजकल बुद्धिवाद का जमाना है। लोग धर्मश्रद्धा को बुद्धि की कसौटी पर चढा कर उसका पृथक्करण करना चाहते हैं। ऐसे बुद्धिवाद के युग मे धर्मश्रद्धा को दृढ करने के लिये और धर्मश्रद्धा का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष रखने की आवश्यकता प्रकट करने के लिये धर्मश्रद्धा के विषय में मैं कुछ विस्तार के साथ विवेचन करना चाहता हूं। यद्यपि अधिक समय न होने के कारण इस विषय पर पूरा प्रकाश नही डाला जा सकता तथापि यथाशक्ति इतना कहने का अवश्य प्रयत्न करूँगा कि धर्म क्या है? श्रद्धा क्या है? और धर्मश्रद्धा का जीवन मे स्थान क्या है ?

धर्म क्या है ? इस प्रश्न का अनेक महात्माओ ने अपनी-अपनी धर्मपुस्तको मे अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार समाधान किया है। इतना ही नही वरन् अब तक जो-जो महान् लोकोत्तर पुरुष हो गये है, उन्होने भी धर्म का ही उपदेश दिया है और धर्म का ही समर्थन किया है। वह

लोकोत्तर पुरुष धर्म के कारण ही लोकोत्तर पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हुये है। इस अवसर्पिणीकाल में हुये तीर्थङ्करो को हम लोग धर्मजागृति करने के कारण ही पूजनीय मानते हैं। उन महापुरुषो ने धर्म का द्वार खोलने के लिये खूब पुरुषार्थ किया था। धर्म की जागृति करने के लिये ही उन्होने राजपाट तथा कुटुम्बीजनो का परित्याग किया था। विविध प्रकार के उपसर्ग, परीषह सहन किये थे और काम-सैन्य के साथ भीषण युद्ध करके काम-शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार विकार-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके उन्होने जो केवलज्ञान प्राप्त किया था उसका उपयोग धर्मप्रचार द्वारा जगत्कल्याण करने मे किया।

जिन भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित सूत्र का श्रवण आप कर रहे हैं, उन भगवान् के जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो मालूम होगा कि धर्मोपदेश देने से पहले उन्होने क्या-क्या किया था? और किस समय उन्होंने धर्म का उपदेश दिया था?

भगवान् महावीर पहले ही चार ज्ञान के स्वामी थे। उनका अवधिज्ञान इतना उज्ज्वल था कि माता के गर्भ मे रहते हुये ही वे जानते थे कि 'मैं पहले कहाँ था और कौन-कौनसा भव भोगकर यहाँ आया हू।' उनके अवधिज्ञान मे ऐसी-ऐसी बाते स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती थी। दीक्षा लेते ही उन्हे मनःपर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। फिर भी उन्होने तत्काल धर्मोपदेश देना आरम्भ नही कर दिया था। सयम की परिपूर्ण साधना के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त होने पर ही उन्होंने धर्मदेशना देना आरम्भ किया था।

केवलज्ञान की दिव्यज्योति का लाभ होने पर जगत् के हित के लिए उन्होने धर्म का मर्म जगत् के जीवो के समक्ष उपस्थित किया था, जिससे उनकी वाणी में किसी को किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश न रहे। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होने साढे बारह वर्ष पर्यन्त घोर तप किया था और अनेक उपसर्ग सहे थे। केवलज्ञान-प्रकट होने के पश्चात् हम लोगो के कल्याण के लिए भगवान् ने जो अमृतवाणी उच्चारी है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् ने हमारे कल्याण के लिए केवलज्ञान प्राप्त करके यह वाणी उपदेशी है। भगवान् अगर वाणी द्वारा हमे उपदेश न देते तो भी अपना कल्याण कर सकते थे। उपदेश न देने के कारण उनके आत्मकल्याण मे कोई बाधा उपस्थित होने वाली नही थी। अन्य मार्ग से भी वह अपना कल्याण-साधन कर सकते थे।

केवलज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर लगभग ३० वर्ष तक वह धर्म का सतत उपदेश देते रहे। साढे बारह वर्ष तक मौनपूर्वक जिस धर्मतत्त्व का उन्होने मनन किया था, उसी धर्म का सार तीस वर्ष तक परिभ्रमण करके जनता को सुनाया। वह जनता का कल्याण करना चाहते थे। इस कथन का अर्थ यह न समझा जाये कि भगवान् को किसी के प्रति मोह या राग था। ससार के जीवो के प्रति उन्हे किसी भी प्रकार का मोह या राग नही था। भगवान् मोहहीन और वीतराग थे। मोह और राग को पूर्णतया जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त ही नही होता।

भगवान् ने किस प्रयोजन से धर्मदेशना दी, यह विचार

बहुत विस्तृत है। अतएव संक्षेप में यही कह देना बस होगा कि भगवान् ने केवलज्ञान प्रकट करने के पश्चात् जो उपदेश दिया वह जगत् के कल्याण के लिये है। उनके हृदय में जीवों के प्रति एकान्त रूप से महान् भावकरुणा थी। भगवान् ने जगत् के जीवों को विविध प्रकार के दुःखों से संतप्त देखकर, उन पर करुणा लाकर उन्हें दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिये वाणी का उच्चारण किया।

हृदय में जब करुणाभाव जागृत होता है तो वह दूसरों का दुःख दूर करने की प्रेरणा करता ही है। आम्रवृक्ष में जब मंजरी आती है, तब कोयल किसी को रिझाने के लिए नहीं कूकती, परन्तु मंजरी का भक्षण करने से उसके कंठ में जो सरलता आती है वही सरलता उसे कूकने के लिए प्रेरित करती है। तब कोयल से कूके बिना रहा नहीं जाता। मेघ-गर्जना होने पर मोर बिना टहूके नहीं रह पाता। इसी प्रकार जब कैतकों में फूल आते हैं तो भ्रमर गुंजारव किये बिना नहीं रह सकते। प्रकृति के इस नियम के अनुसार जब मनुष्य के हृदय में भाव-करुणा उत्पन्न होती है तो वह मनुष्य को बोलने के लिए प्रेरित करती ही है। भगवान् महावीर भी इसी भावकरुणा से प्रेरित होकर धर्मदेशना देने में प्रवृत्त हुए थे। वह अपना कल्याण तो कर ही चुके थे और किसी जीव के प्रति उन्हें राग या मोह भी नहीं था, फिर भी संसार के दुःखी प्राणियों पर भावकरुणा करके उन्होंने वाणी उच्चारी थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि हमारे कल्याण के लिए ही भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया था। भगवान् की ऐसी पवित्रतम वाणी एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देना कितने बड़े आश्चर्य की बात है!

साराश यह है कि जगत् के कल्याण के लिए ही भगवान् ने धर्मोपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र यह रत्नत्रय रूप धर्म ही सच्चा धर्म है। जैनधर्म तो इस रत्नत्रय को ही धर्म मानता है। भगवान् ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र रूप धर्म की जो प्ररूपणा की है, वह धर्म सब जीवो के कल्याण के लिए ही है।

धर्म के विषय मे यह व्याख्या सुनकर कोई कह सकता है कि आप धर्म को जीवो का कल्याण करने वाला प्रकट करके उसकी प्रशसा करते है, मगर यदि धर्म का इतिहास देखा जाये तो प्रतीत होगा कि धर्म के कारण जो अत्याचार और जुल्म किये गये हैं, वैसे शायद ही अन्य किसी कारण किये गये हो। इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि धर्म के कारण बडे से बडे अत्याचार और घोर से घोर अन्याय किये गये हैं। ऐसी स्थिति मे जिस धर्म के कारण ऐसे अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं, उस धर्म की जगत् को क्या आवश्यकता है? कितनेक लोग दो कदम आगे बढकर इन्ही युक्तियो के आधार से यहाँ तक कहते नही हिचकते कि धर्म और ईश्वर का बहिष्कार कर देना चाहिए। उनका यह भी कथन है कि ससार मे यदि ईश्वर और धर्म न होता तो अधिक आनन्द-मगल होता। मगर ईश्वर और धर्म ने तो इतने जुल्म ढाये हैं कि इतिहास के पन्ने के पन्ने रक्त से रगे हुये हैं। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि के बीच धर्म के नाम पर बडे-बड़े युद्ध लड गये है और खूनखच्चर हुये है। धर्म के नाम पर ऐसे-ऐसे अनर्थ हुए सुने जाते हैं कि न पूछिए बात। इग्लेण्ड मे 'मेरी' नाम

की एक रानी हो गई है। उसमे धर्म का इतना अभिनिवेश था कि कदाचित् कोई ईसाई धर्म के विरुद्ध जीभ खोलता तो वह उसे जिंदा ही आग मे होम देने में सकोच नही करती थी। औरगजेब ने भी धर्म के नाम पर अमानुषिक अत्याचार किया था। इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार, अन्याय, सितम, जुल्म किये गये है। धर्म के कारण ही रामचन्द्रजी को अयोध्या का राज्य त्याग करके वन मे भटकना पडा था धर्म के नाम पर ही रामचन्द्रजी ने सीता की अग्निपरीक्षा की थी। धर्म के कारण ही द्रौपदी को वनवास स्वीकार करना पडा था। धर्म की बदौलत ही पाण्डवो को तरह-तरह की तकलीफे झेलनी पडी थी। धर्म कारण ही नल-दमयती को भी असह्य कष्ट सहन करने पडे थे। इस प्रकार धर्म के कारण सब को कष्ट सहने पडे है।

इस प्रकार धर्म की निन्दा करते हुए लोग कहते है कि धर्म ने दुनिया को बहुत कष्ट दिया है। कुछ लोग इतने मे ही सतोष न मानकर धर्म और ईश्वर के बहिष्कार का बीडा बडे जोश के साथ उठा रहे है।

जो लोग धर्म और ईश्वर को इस प्रकार त्याज्य समझते हैं, उनसे जरा पूछा जाये कि—ससार मे जो अन्याय, अत्याचार और जुल्म किया गया है, उसका वास्तविक कारण क्या है—धर्म, धर्मभ्रम या धर्मान्धता ? अगर इस प्रश्न पर शान्ति के साथ तटस्थभाव से विचार किया जाये तो धर्म और धर्मभ्रम का अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। धर्म के नाम पर प्रकट किये जाने वाले भूतकालीन और वर्त्त-

मानकालीन अत्याचार और जुल्म धर्मभ्रम या धर्मान्धता के कारण ही हुए और हो रहे है। धर्म तो सदा-सर्वदा सर्वतोभद्र ही है। जहाँ धर्म है वहाँ अन्याय, अत्याचार पास ही नही फटक सकते। साथ ही जिस धर्म के नाम पर अन्याय एव अत्याचार होता है वह धर्म ही नही है। वह या तो धर्मभ्रम है या धर्मान्धता है। शास्त्र स्पष्ट शब्दों मे कहता है :-

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ,

अर्थात् -अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म-सदा मगलमय है- कल्याणकारी है। जो लोग जीवन में धर्म की अनावश्यकता महसूस करते हैं, उन्होने या तो धर्म का स्वरूप नही समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिंह की चमडी पहना दी जाये तो गधा कुछ सिंह नही बन जायेगा। भले ही सिंह-वेषधारी गधा थोड़े समय के लिये अपने आपको सिंह के रूप में प्रकट करके खुश हो ले पर अन्त मे तो गधा, गधा सिद्ध हुए बिना रहने का नही। इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाये, लेकिन अंत मे धर्मभ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए बिना नही रह सकती।

धर्म को धर्मभ्रम और धर्मभ्रम को धर्म मान लेने के कारण बडी गडबडी मची है। सुवर्णकार मिट्टी मे मिले सुवर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा मिट्टी से अलग निकालता है, इसी प्रकार विवेकी-जनो को चाहिए कि वे धर्मभ्रम की मिट्टी में मिले हुये धर्म-सुवर्ण को ताप, कष और

छेद के द्वारा अलग कर डाले। यह कहने की तो आवश्यकता ही नही कि मिट्टी, मिट्टी है और सोना, सोना है। लेकिन मिट्टी मे मिले सोने को सच्चा सुवर्णकार ही अलग कर सकता है। इसी प्रकार धर्म, धर्म है और धर्मभ्रम, धर्मभ्रम है। मगर धर्मभ्रम मे मिले धर्म को शोधने का कार्य सच्चे धर्म-शोधक का है। धर्म को जब धर्मभ्रम से पृथक् कर दिया जायगा तभी वह अपने उज्ज्वल रूप मे दिखाई देगा और तभी उसकी सच्ची कीमत आकी जा सकेगी।

जीवन मे धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, यहा तक कि धर्म के बिना जीवन–व्यवहार भी नही चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नही करते, उन्हे भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना ही पडता है, क्योकि धर्म का आश्रय लिये बिना जीवन-व्यवहार निभ ही नही सकता है। उदाहरणार्थ—पाच और पाच दस होते है, यह सत्य है और सत्य धर्म है। जिन्हे धर्म आवश्यक नही मालूम होता उन्हे यह सत्य भी अस्वीकार करना होगा। मगर क्या इसे स्वीकार किये बिना काम चल सकता है? मान लीजिए आपको कडाके की भूख लगी है। आपकी माता ने भोजन करने के लिए कहा। आप धर्म–विरोधी होने के कारण कहेगे—'नही, मुझे भूख नही लगी है।' तो कब तक जीवन निभ सकेगा? धर्म के अभाव मे एक श्वास लेना भी कठिन है। ऐसा होने पर भी धर्म की जो निन्दा की जाती है, उसका एक कारण है—धर्म के नाम पर होने वाली ठगाई।

बहुत से लोग धर्म के नाम पर दूसरो को ठगते हैं, इसी कारण धर्मनिंदको को धर्म की निन्दा करने का मौका मिलता है। अतएव हम लोगो को (साधु-आर्यायो को) सदैव

इस बात का खयाल रखना चाहिये कि हमारे किसी भी व्यवहार के कारण धर्म की निन्दा न होने पाये । साधु-साध्वियो के साथ ही आप—श्रावको को भी अपने कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। धार्मिक कहलाते हुए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे परधन या परनारी का अपहरण करना धर्म की निन्दा करने के समान है । अगर आप धर्म की निदा नही कराना चाहते तो एक भी कार्य ऐसा मत करो जिससे धर्म की निन्दा होती हो। धर्म की निन्दा या प्रशसा धर्मपालको के धर्मपालन पर निर्भर करती है । हम और तुम अर्थात् साधु और श्रावक अगर दृढता-पूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन करे तो धर्म-निन्दको पर भी उसका असर हुए बिना नही रह सकता । एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब वह भी धर्म का माहात्म्य समझेंगे और धर्म की निन्दा करने के बदले प्रशसा करने लगेंगे ।

पहले यह दलील दी गई है कि धर्म की बदौलत सिर पर सकट आते है । इसका सक्षेप मे यही उत्तर दिया जा सकता है कि कष्ट तो धर्म की कसौटी है । हम मे वास्तव मे धर्म है या नही, इस बात की परीक्षा कष्ट आने पर ही होती है। धर्म के कारण जिन्होने कष्ट उठाये हैं उनसे पूछो कि धर्म के विषय मे वह क्या कहते हैं ? कदाचित् सीता से पूछा जाता 'रामचन्द्रजी ने तुम्हे अग्नि मे प्रवेश करने के लिए विवश किया, तो अब रामचन्द्रजी तुम्हे प्रिय है या नही ?' तो सीता इस प्रश्न का क्या उत्तर देती ? सीता कहती–रामचन्द्रजी ने मेरी अग्नि-परीक्षा करके मेरे धर्म की कसौटी की है । धर्म के प्रताप से मैं अग्नि को शांत करूँ, धर्म की निन्दा दूर करके धर्म की महिमा का विस्तार करूँ,

इसी मे तो मेरे धर्म की सच्ची कसौटी है ।

कहा जाता है कि धर्म के कारण हो रामचन्द्रजी को राज्य त्याग कर वनवास करना पडा था । मगर जिस धर्म के पालन के लिए रामचन्द्रजी को राज्य छोडना पडा था, वह धर्म उन्हे प्रिय लगा था या अप्रिय ? अगर रामचन्द्रजी को धर्म प्रिय लगा था तो दूसरो को राम के नाम पर धर्म की निन्दा करने का क्या अधिकार है ?

नल-दमयन्ती और पाण्डवो वगैरह के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है । मगर नल-दमयन्ती और पाण्डव आदि— जिन्होने कष्ट भोगे थे— जब धर्म को बुरा नही कहते तो फिर उनका नाम लेकर धर्म की निन्दा करने का किसी गैर को क्या अधिकार है ? नल-दमयन्ती और पाण्डव वगैरह कष्टो को जब धर्म की कसौटी समझते थे, तो फिर इन्ही का नाम लेकर धर्म को बदनाम करना कहा तक उचित है ! सत्य तो यह है कि धर्म किसी भी समय निन्दनीय नही गिना गया है । धर्म सर्वदा सर्वतोभद्र है अतएव धर्मभ्रम या धर्मान्धता को आगे लाकर धर्म की निन्दा करना किसी भी प्रकार समुचित नही है ।

धर्म का सम्बन्ध सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र के साथ है । जहा इनमें से एक भी नही है, वहा धर्मतत्त्व भी नही है । जहाँ यह रत्नत्रय है वही सच्चा धर्म है । धर्मभ्रम या धर्मान्धता तो स्पष्टतः धर्माभास है–अधर्म है । प्रजा को हैरान करना, परधन और परस्त्री का अपहरण करना तो साफ अधर्म है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर ही क्यो न प्रसिद्ध किया जाये ।

धर्म तो इस विचार मे है कि—मैं स्वय तो असत्य बोलूंगा ही नही, अगर कोई दूसरा मुझ मे असत्य बोलेगा तो भी मैं असत्य नही बोलूंगा। मैं स्वय तो किसी की चीज का अपहरण करूँगा ही नही, अगर मेरी वस्तु का कोई अपहरण करेगा तो भी मैं यह विचार तक नही करूँगा कि मैं उसको किसी वस्तु का अपहरण करूँ, उसका कुछ बिगाड करूँ। मैं किसी पर क्रोध भी नही करूँगा। मैं थप्पड का का बदला थप्पड से नही, प्रेम से दूगा। जिसके अन्त करण मे धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार का विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड का बदला थप्पड़ से देते हैं अथवा परधन और परस्त्री के अपहरण की चिन्ता में दिनरात डूबे रहते हैं वही लोग धर्म को निन्दा कराते हैं।

दूसरो की बात जाने दीजिए, सिर्फ आप अपनी आत्मा से प्रश्न कीजिए—'आत्मन्! तू धर्म की निन्दा करवाती है या प्रशसा? अगर आप धर्म की प्रशसा कराना चाहते हैं तो विचार कीजिए कि आपको कैसा व्यवहार करना चाहिए? आप भूलकर भी कभी ऐसा व्यवहार मत कीजिये जिससे धर्म की निन्दा हो। सदा ऐसा ही व्यवहार कीजिए जिससे धर्म की प्रशसा हो। इस प्रकार धर्मोदय का विचार करके सद्व्यवहार कीजिए। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने का परिणाम यह होता है कि साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और हृदय मे यह भावना प्रबल होने लगती है कि मैं अपने सुख के लिए किसी और को दुख नही पहुचा सकता। मेरा धर्म ही दूसरो को सुख पहुचाना है। इस तरह विचार

करके धर्मश्रद्धालु व्यक्ति भोगो से विरक्त रहेगा और दूसरों के सुख के लिए आप कष्ट सहन करेगा ।

भर्तृहरि ने कहा है कि दृढधर्मी सत्पुरुष पराये हित के लिए स्वय कष्ट सहन करते हैं । लोग 'धर्म-धर्म' चिल्लाते हैं, मगर धर्म के इस मौखिक उच्चार से धर्म नही आ जाता । जीवन मे धर्म मूर्त्त स्वरूप तभी धारण करता है जब अपने सुख का बलिदान करके दूसरो को सुख दिया जाता है और दूसरो को दुःख से बचाने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखो का भी परित्याग कर दिया जाता है ।

धार्मिक दृष्टि से, दूसरो से पैसा लेना अच्छा है या दूसरो को पैसा देना अच्छा है ? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जायेगा कि पैसा देना अच्छा है - लेना नही, लेकिन इस उत्तर को व्यवहार मे सक्रिय रूप दिया जाता है या नही, यह विचारणीय है । व्यवहार मे तो हाय पैसा, हाय पैसा की ध्वनि ही सर्वत्र सुनाई पडती है । फिर भले ही दूसरो का कुछ भी हो -- वे चाहे जीयें या मरें । जब इस प्रवृत्ति मे परिवर्त्तन किया जाये और दूसरो के सुख में ही सुख मानने की भावना उद्भूत हो और अपने सुख के लिए दूसरे को दुःख देने की भावना बदल जाये, तब समझना चाहिए कि धर्मश्रद्धा का फल हमे प्राप्त हो गया है ।

आज तो धर्म के विषय मे यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि और नव-निधि प्राप्त हो, वही धर्म है । अष्टसिद्धि और नव-निधि का मिलना ही धर्म का फल है । किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते हैं, वह इससे विपरीत

है। शास्त्रकारो का कथन यह है कि धर्मश्रद्धा का फल सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों से विरक्त होना है।

अब आपको यह सोचना है कि आपको किस भावना से धर्म पर श्रद्धा रखना है? अगर आपको अपना ही सुख-साँसारिक सुख चाहिए तो यह तो दुनिया मे चला ही आ रहा है, मगर इस चाह मे धर्मश्रद्धा नही है। अगर आप धर्मश्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं और धर्म का वास्तविक स्वरूप जानना चाहते हैं तो आपको सदैव यह उच्च भावना रखनी होगी कि—मैं दूसरो को सुख देने मे ही प्रयत्नशील रहूं। इस प्रकार की उच्च भावना टिकाये रखिये और इस भावना को मूर्त्त स्वरूप देने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त सुखो के प्रति उदासीन रहिए। अगर आपको यह भावना प्रिय लगती है तो उसे जीवन मे व्यवहृत करने के लिए प्रभु के प्रति यह प्रार्थना करो:—

दयामय! ऐसी मति हो जाय।
भूले भटके उलटी मति के जो है जन-समुदाय,
उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ निज सर्वस्व लगाय ।।दया।।

अर्थात्—हे प्रभो! मेरी बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाये कि भान भूले हुए, भटके हुए या उलटी बुद्धि वाले मनुष्यो को देखकर मेरे हृदय मे घृणा या तिरस्कार उत्पन्न न हो, वरन् ऐसा मैत्रीभाव पैदा हो कि अपना सर्वस्व लगाकर भी उसे सन्मार्ग पर लाऊँ और उसका कल्याण करूँ। दूसरे को सुधारने के लिए अपना सर्वस्व होम देने वाले सत्पुरुषो के ज्वलन्त उदाहरण शास्त्र के पन्नो मे लिखे हुए है।

अर्जुन माली महापापी और अधम था, लेकिन सुदर्शन सेठ ने उसका सुधार किया । शास्त्र मे इस बात का तो कोई उल्लेख नही मिलता कि सुदर्शन सेठ ने अपना कल्याण किस प्रकार और किस समय किया, लेकिन अर्जुन माली के विषय का उल्लेख शास्त्र मे अवश्य पाया जाता है। उसने उसी भव मे अपनी आत्मा का कल्याण साध लिया था । सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के विषय मे विचार किया - यह भान भूला हुआ है और इसी कारण दूसरो की हत्या करता है । ऐसे का सुधार करना ही तो मेरा धर्म है। इस प्रकार विचार कर अर्जुन माली का सुधारने के लिए आा ध्यानस्थ होकर बैठ गया । अर्जुन माली जब मुद्गर लेकर मारने आया तो सेठ ने विचार किया—'अगर मुझ मे सच्ची धर्मनिष्ठा हो तो अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न न हो ।' इस प्रकार की उच्च भावना करके और अपने सर्वस्व का त्याग करके भी अर्जुन माली जैसे अधम का उसने उद्धार किया । हालाकि सुदर्शन का सर्वस्व नष्ट नही हो गया, फिर भी उसने अपनी ओर मे तो त्याग कर ही दिया था । जिस सुदर्शन ने अर्जुन माली जैसे अधम का उद्धार किया था, उसने गृहस्थ होते हुए भी परमात्मा से यही प्रार्थना की थी कि –'हे प्रभो ! मेरे अन्त करण मे अर्जुन के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न न हो ।' इसी सद्भावना के प्रताप से अर्जुन विनाशक के बदले उसका सेवक बन गया। सुदर्शन की सद्भावना ने अर्जुन माली जैसे नरघातक को भी सब का रक्षक बना दिया । क्या सद्भावना की यह विजय साधारण है ?

जो सद्भावना आसुरी प्रकृति को भी देवी बना सकती

है, उस सद्भावना को अपने जीवन मे प्रकाशित करो तो आपका कल्याण अवश्य होगा । जहा ऐसी सद्भावना है वही सच्ची धर्मश्रद्धा है । इस प्रकार सद्भावना धर्मश्रद्धा की कसौटी है । सच्ची धर्मश्रद्धा को अपने जीवन में जिसे प्राप्त करना है उसे दुर्भावना का त्याग कर इसी प्रकार की सद्भावना प्राप्त करनी चाहिए ।

मूल प्रश्न है-धर्मश्रद्धा का फल क्या है ? इस सबध मे थोडी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मगर इस विषय मे थोड़ा और विचार करना आवश्यक है। आज बहुत से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध मे गडबड में पडे हुए हैं। कुछ लोगो ने समझ रखा है कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति अर्थात् सासारिक ऋद्धि-सिद्धि आदि मिलना है। पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धन को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त हो जाये तो समझना चाहिए कि धर्म का फल मिल गया ।' ऐसा होने पर ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न हो सकती है । जैसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती है, पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, उसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकताओ की पूर्ति हो तभी धर्म पर श्रद्धा जाग सकती है ।

इस प्रकार धर्म से पुत्र-धन आदि की आशा रखने वालो से शास्त्रकार कहते हैं कि तुमने अभी धर्म-तत्त्व समझा ही नही है । कुम्भार जब मिट्टी लेकर घडा बनाने बैठता है तब वह मिट्टी मे से हाथी-घोडा निकलने की आशा नही रखता । जुलाहा सूत लेकर कपडा बुनने बैठता है तो सूत मे से तांबा-पीतल निकलने की आशा नही रखता । किसान बड़े परिश्रम से खेती करता है, मगर पौधो मे से

हीरा-मोती निकलने की आकाक्षा नही रखता । कुम्भार, जुलाहा और किसान भी ऐसी भूल नही करते तो धर्मात्मा कहलाने वाले लोग धर्म से पुत्र या धन की प्राप्ति की आशा किस प्रकार रख सकते है ? यह तो कुम्भार भी जानता है कि कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नही होती । जो जिसका कारण ही नही, उससे वह कैसे पैदा होगा ? स्त्रिया जब भात पकाती है तो क्या बर्तन मे मोती पैदा हो जाने की बात सोचती है ? ऐसा न सोचने का कारण यही है कि उन्हे पता है कि कारण होगा तो कार्य होगा, अन्यथा नही । इस प्रकार लोक में कारण के विरुद्ध कार्य की कोई इच्छा नही करता तो फिर धर्म के विषय मे ही यह भूल क्यो हो रही है ? जो धर्म ससार का कारण ही नही है उससे सासारिक कर्य होने की इच्छा क्यों की जाती है ?

तो फिर धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने बतलाया है कि—'धर्मश्रद्धा का फल ससार के पदार्थों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सासारिक पदार्थों के प्रति रही हुई रुचि हट जाती है—अरुचि उत्पन्न हो जाता है। इस स्थिति में ससार के भोगविलास एवं भोगविलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नही होते । लोग धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सासारिक पदार्थों के प्रति अरुचि जागना है। कहा तो सासारिक पदार्थों के प्रति निर्ममत्व और कहाँ सांसारिक पदार्थों की चाह ! धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहाँ तक उचित है ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आजकल धर्म

की जो अवहेलना हो रही है, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना है। लोगो को यह भी पता नही कि धर्म किस कार्य का कारण है? धर्म सम्बन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नही तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्त करण मे धर्मश्रद्धा है या नही, इस बात की परीक्षा करने का 'थर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'थर्मामीटर' द्वारा अपनी जाच कीजिए कि वास्तव मे आप मे धर्मश्रद्धा है या नही। अगर आप मे धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीय-जन्य सुखो के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

मान लीजिए, आप भोजन करने बैठे हैं। थाल परोसा हुआ आपके सामने है। इसी समय आपका कोई विश्वासपात्र मित्र आकर यदि भोजन में विष मिला है इस बात की सूचना देता है तो क्या आपको वह भोजन खाने की रुचि होगी? नही। इसी प्रकार सच्ची धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सातावेदनीय-जन्य सुखो के प्रति रुचि नही हो सकती। इस प्रकार जब सासारिक विषयभोगो के प्रति विरक्ति हो तो समझना चाहिए कि मुझ मे धर्मश्रद्धा है।

कहा जा सकता है कि, हम तो उसी को धर्म मानते हैं जो हमे अधिक से अधिक सुख प्रदान करे, सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले को हम धर्म नही, अधर्म समझते हैं। उसे जीवन मे किस प्रकार स्थान दिया जा सकता है? आपके कहे धर्म से तो कोई सुख नही मिलता। इसके

विपरीत विज्ञान द्वारा सभी प्रकार के सुख सुलभ हो जाते है। विज्ञान ने मानव-समाज को कितना सुखी बना दिया है? जिस जगह पहुचने मे महीनो लगते थे, वहा अब कुछ ही घन्टो मे वायुयान द्वारा पहुच सकते हैं। अमेरिका का गायन और भाषण घर बैठे-बैठे सुनना पहले क्या शक्य था? लेकिन विज्ञान की कृपा से आज वह सभी के लिए सुलभ हो गया है। जिस सुख और सुविधा की कल्पना भी नही की जा सकती थी, वही सुख आज विज्ञान की बदौलत प्राप्त हो रहा है। ग्रामोफोन, टेलीग्राफ, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक आविष्कार द्वारा कितनी सुविधाएँ हो गई हैं? इस प्रकार विज्ञान ने मनुष्यसमाज के कितने दुख दूर कर दिये है? जो विज्ञान हमे इतना सुख पहुँचा रहा है उसे ही क्यो न माना जाये? कुछ भी सुख न देने वाले बल्कि प्राप्त सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले धर्म को मानने की अपेक्षा सब प्रकार की सुख सुविधाएँ देने वाले विज्ञान को ही उपास्य क्यो न माना जाये?

इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर बहुतसे लोग धर्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्व देते है। धर्म, वस्तु का स्वभाव है। अतएव जिस वस्तु में जो स्वभाव है, उचित कारणकलाप मिलने पर अवश्य ही उसका प्राकट्य होता है। इस दृष्टि से विज्ञान को कौन नही मानता? परन्तु जो विज्ञान धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ और सकल सुखदाता माना जाता है, वह वास्तव मे ही सुखदायक है या दुखदायक? इस प्रश्न पर यहा विचार करना आवश्यक है। जिस विज्ञान ने जितनी सुख-सामग्री प्रस्तुत की है,

उसी विज्ञान ने सहारक-सामग्री भी उतनी ही उत्पन्न की है । इस दृष्टि से गम्भीर विचार करने पर पता चलेगा कि विज्ञान की बदौलत सुख की अपेक्षा दु ख की ही अधिक वृद्धि हुई है। विज्ञान का जब इतना विकास नही हुआ था, तब राष्ट्र सुखी था या दुखी ? विज्ञान ने मानवसमाज का रक्षण किया या भक्षण ? शान्ति प्रदान की है या अशाति ? ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान ने सुख-साधन प्रदान किये हैं । मगर विचारणीय तो यह है कि इन सुख-साधनो ने राष्ट्र को सुख पहुचाया भी है या नही ? यही नही, बल्कि सुख के बदले दु ख तो नही पहुचाया ? सावधानी से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि विज्ञान ने राष्ट्र को दु ख, दारिद्रय और घोर अशान्ति की ही भेंट दी है ।

विज्ञान की सहारक शक्ति के कारण कोई भी राष्ट्र आज सुखी, शान्त या निर्भय नही है । सारा ससार आज भयग्रस्त और अशात है । ऐसी स्थिति मे, विज्ञान का साक्षात् फल देखते हुए भी विज्ञान को सुखदायक किस प्रकार कहा जा सकता है ? पहले जब कभी युद्ध होता था तो योद्धागण ही तलवारो से आपस मे लडते थे । लडने के उद्देश्य से जो सामने आता, उसी पर तलवार का प्रहार किया जाता था । मगर आज विज्ञान के अनुग्रह से युद्ध मे भाग न लेने वाले और शाति से घर मे बैठे हुए लोग भी बमो के शिकार बनाये जाते हैं। यह विज्ञान का ही आविष्कार है ! बमगोलो की मार से अबीसीनिया और चीन देश के हजारों-लाखो नागरिको को जान-माल से हाथ

धोना पडा है । विज्ञान की बदौलत वहाँ अमानुषिक और रोमाञ्चकारी अत्याचार किये जा रहे हैं और विनाश का ताण्डवनृत्य हो रहा है। यह विज्ञान का आविष्कार या विनाश का आविष्कार है ?* एक सज्जन ने मुझ बतलाया था कि एक ग्लास पानी मे विशेष प्रकार की वैज्ञानिक क्रिया-प्रक्रिया करने से ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो सम्पूर्ण लन्दन नगरी को थोडी ही देर मे नष्टप्राय कर सकती है । जिस नगरी मे लाखो की आबादी है और जो ससार की सब से विशाल नगरी कहलाती है, उसे कुछ ही देर मे नष्ट कर डालने की यह योजना विज्ञान की ही है । यह है विज्ञान की अनुपम देन !

आज जिन पाश्चात्य या पौर्वात्य देशो मे विज्ञान का अधिक प्रचार है, वह देश क्या युद्ध के चक्कर मे नही फसे हैं ? आज सारा यूरोप—जर्मनी, इग्लेण्ड, इटली, फ्रान्स, स्पेन आदि देश तथा एशिया-रशिया, जपान आदि देश, विज्ञान के बल पर युद्ध करके राज्यलिप्सा को तृप्त करना चाहते है । इस कुत्सित लिप्सा के कारण ही मानव-सृष्टि के शीघ्र से शीघ्र सहार की शोध आज विज्ञान कर रहा है । इस प्रकार विज्ञान ही मानव-समाज की सस्कृति का विनाश करने के लिये सब से अधिक उत्तरदायी है ।

इस प्रकार आज विज्ञान का दुरुपयोग किया जारहा है । अगर विज्ञान का सदुपयोग किया जाये तो वह धर्म

---

* इस व्याख्यान के पश्चात् विश्वव्यापी महायुद्ध का जो प्रचड ताण्डव हुआ है, उससे विज्ञान के कटुक फल खूब साफ मालूम होने लगे हैं । पूज्यश्री का यह व्याख्यान तो महायुद्ध के पहले का है ।

और सस्कृति की रक्षा करने मे अच्छा सहायक बन सकता है। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी होता है, यह एक सामान्य नियम है। किन्तु प्रायः देखा जाता है कि सदुपयोग बहुत कम मात्रा मे होता है और दुरुपयोग अधिक मात्रा मे। यही कारण है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु से विकास की अपेक्षा विनाश ही अधिक होता है। विज्ञान का अगर सदुपयोग किया जाये तो उससे मानव-समाज का बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता।※ आज तो विज्ञान धर्म और सस्कृति के ह्रास का ही कारण बना हुआ है।

※ सम्पूर्ण व्याख्यान को पढने मे प्रतीत होगा कि आचार्य श्री का आशय यह है कि– विज्ञान का सदुपयोग होना उसी समय संभव है, जब धर्मभावना की प्रधानता हो और धर्म ही विज्ञान का पथ-प्रदर्शन करता हो। आज के वैज्ञानिक इस तथ्य को भूले हुए हैं। उन्होने धर्म को नाचीज मानकर विज्ञान को ही सृष्टि का एकमात्र सम्राट् बनाने की चेष्टा की है। इसी कारण विज्ञान, विनाश का सहचर बन गया है। जब धर्म को नेतृत्व मिलेगा और विज्ञान उसका अनुचर बनेगा, तभी वह विश्वकल्याण का साधन बन सकेगा। धर्म जहा नेता होगा वहा विज्ञान के द्वारा किसी का विनाश होना सभव नही, अन्याय और अत्याचार को अवकाश नही। धर्म के अभाव मे विज्ञान मनुष्यसमाज के लिए विष ही बना रहेगा। धर्म का अनुचर बनकर वह अमृत बन सकता है।

— सपादक

सामग्री प्राप्त होती है। मगर शास्त्र बतलाता है कि धर्म से विषयसुख के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। यह तो हमे नई बात मालूम होती है।' ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि किसान गेहू बोकर सोना-चाँदी पाने की इच्छा नही करता; फिर भी गेहू के विक्रय से उसे क्या सोना-चाँदी नही मिल सकता ? जुलाहा कपडे की बुनाई करके ताँबा-पीतल नही पाना चाहता, फिर भी कपडा बेचकर वह तांबा-पीतल प्राप्त कर सकता है। मिल-मालिको के आकाश-चुम्बी भवन वस्त्रो के विक्रय से ही बने हैं या और किसी वस्तु से ?

प्रत्येक कार्य का फल दो प्रकार का होता है— एक साक्षात् फल और दूसरा परम्परा फल। शास्त्र में दो प्रकार के फलों की जो कल्पना की गई है, वह निराधार नही है। धर्म के विषय मे भी इन दोनो प्रकार के फलो की कल्पना भुलाई नही जा सकती। धर्म से जो फल मिलने वाला है, वह तो मिलेगा ही, लेकिन तुम धर्म द्वारा ऐसे फल की आकाक्षा न करो कि धर्म से हमे साता-सुख की प्राप्ति हो। सांसारिक सुखो के प्रति अरुचि ही धर्म के फल-स्वरूप चाही। इस प्रकार का विचार रखते हुए कदाचित् परम्परा फल-स्वरूप इन्द्रपद भी मिल सकता है, किन्तु उसकी आकांक्षा मत करो। आकाक्षा धर्म का मैल है उससे धर्मभावना कलुषित हो जाती है और धर्म का प्रधान फल मिलने मे रुकावट होती है।

धर्म के प्रति लोगो को अश्रद्धा क्यो उत्पन्न होती है। इसका सामान्यतः कारण यह है कि लोग जिस साता-सुख

में फँस जाते हैं, उन सुखो के पीछे रहे हुए विकारो को या दु खो को वह देखते नही और इसी कारण धर्म पर उनकी श्रद्धा नही जमती। अतएव सब से पहले यह देखना चाहिए कि धर्म के द्वारा तो सुख-साता चाही जाती है, उसके पीछे सुख रहा हुआ है या दु ख ? साँसारिक सुखो के पीछे क्या छिपा हुआ है, यह देखने से प्रतीत होता है कि वहा एकात दु ख ही दु ख है। इस प्रकार दु ख की प्रतीति होने पर फल-स्वरूप धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी। यह बात विशेषतया स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए, जिससे सब सरलतापूर्वक समझ सक।

एक नगर मे दो मित्र रहते थे। उनमें से एक मित्र धर्म पर श्रद्धा रखता था और सासारिक सुखो को दुःखरूप मानता था। दूसरा मित्र ससार के भोगविलास को सुख-रूप समझता था। पहला मित्र दूसरे को बार-बार समझाता था कि ससार में एक भी ऐसी वस्तु नही जो दु खरहित हो तब दूसरा मित्र पहले से कहता 'भाई साहब! संसार मे उत्तम भोजन-पान, नाचरग और स्त्रीभोग मे जैसा सुख है वैसा सुख और कही नही है।' इस प्रकार दोनो एक दूसरे की भूल बतलाया करते थे। अन्त में एक बार पहले मित्र ने कहा— इसका निर्णय करने के लिए मैं एक उपाय बतलाता हू। आप राजा के पास जाओ और उनसे कहो— मैं आपको अमुक भेंट देना चाहता हू। आप वह भेंट लेकर दो घडी के लिए पाखाने मे बैठ जाइए।' क्या राजा तुम्हारी यह प्रार्थना स्वीकार करेगा ? दूसरे मित्र ने कहा नही !' तब पहले मित्र ने प्रश्न किया 'राजा तुम्हारी प्रार्थना क्यों स्वीकार नही करेगा ? क्या धन मे सुख नही है ?' दूसरे

ससार मे धर्म न होता तो दुनिया में कितना भयकर हत्याकाड मच रहा होता, यह कल्पना भी दु खदायक प्रतीत होती है । मानव सस्कृति के होने वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र द्वारा-अहिंसा द्वारा ही यह हिंसाकाण्ड अटकाया जा सकता है। धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नही देता जो मानव-सस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोश के साथ बढे चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो । जो धर्म आज दु.खरूप और जीवन के लिए अनावश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव मे सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही, जो विज्ञान आज सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है वही विज्ञान वास्तव मे दु.खरूप और जीवन के लिए अनावश्यक है। यह सत्य आज नही तो निकट भविष्य में सिद्ध हुए बिना नही रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ मे न आये, मगर समय आप ही समझा देगा।

धर्म और विज्ञान पर विवेक दृष्टि के साथ विचार किया जाये तो धर्म की महत्ता समझ मे आये बिना नही रहेगी। जो लोग निष्पक्ष दृष्टि से देख सकते है और विज्ञान के कटुक फलो का विचार कर सकते हैं, उन्हे "धम्मो मगल" अर्थात् धर्म मगलकारी है, यह सत्य समझते देर नही लग सकती।

प्राचीनकाल मे वायुयान, टेलीफोन, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक साधन नही थे। फिर भी प्राचीनकाल के लोग अधिक सुखी थे या वैज्ञानिक साधनो वाले इस समय

के लोग सुखी है ? उस समय अधिक शान्ति थी या इस समय अधिक शान्ति है ? वैज्ञानिक साधन न होने पर भी प्राचीनकाल का मनुष्य–समाज अधिक सुख और शान्ति भोगता था । यह किसके प्रताप से ? धर्म के ही प्रताप से या किसी और के प्रताप से ? आज लोग विज्ञान पर ऐसे मुग्ध हो रहे हैं कि उन्हे धर्म का नाम तक नही सुहाता । इसका एकमात्र कारण लोगो की मोहावस्था ही है । विज्ञान की उन्नति को देखकर ज्ञानीजन प्रसन्न ही होते हैं । वह सोचते है कि पहले अधिकारपूर्वक नही बतलाया जा सकता था कि विज्ञान शान्ति का सहारक हैं । कदाचित् बतलाया जाता तो लोगो को इस कथन पर प्रतीति न होती । मगर आज हमे प्रमाणपूर्वक कहने का कारण मिला है कि आज-कल विज्ञान का इतना विकास होने पर भी और वैज्ञानिक साधनो की प्रचुरता होने पर क्या मानव–जोवन का अस्तित्व और सुखशान्ति सुरक्षित है ? इस प्रकार आज हम धर्म का महत्व प्रमाणित करने मे समर्थ हो सके हैं और प्रमाण-पुरसर कह सकते हैं कि 'धर्म ही सच्चा मगल है ।' धर्म ही अशरण का शरण है । धर्म मे ही मानव समाज की सुख-शान्ति सुरक्षित है ।

कहने का आशय यह है कि धर्म का फल, विषय-सुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है और जब विषयसुखो के प्रति अरुचि उत्पन्न हो, समझना चाहिए कि हमारे अन्त.-करण मे धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई है ।

कहा जा सकता है कि—'हम तो यही सुनते आये हैं कि धर्म से स्वर्ग, इन्द्रपद, चक्रवर्ती का वैभव आदि सुख–

सामग्री प्राप्त होती है। मगर शास्त्र बतलाता है कि धर्म से विषयसुख के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। यह तो हमें नई बात मालूम होती है।' ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि किसान गेहू बोकर सोना-चाँदी पाने की इच्छा नही करता, फिर भी गेहू के विक्रय से उसे क्या सोना-चाँदी नही मिल सकता ? जुलाहा कपडे की बुनाई करके ताँबा-पीतल नही पाना चाहता; फिर भी कपडा बेच-कर वह ताबा-पीतल प्राप्त कर सकता है। मिल-मालिकों के आकाश-चुम्बी भवन वस्त्रो के विक्रय से ही बने हैं या और किसी वस्तु से ?

प्रत्येक कार्य का फल दो प्रकार का होता है— एक साक्षात् फल और दूसरा परम्परा फल। शास्त्र मे दो प्रकार के फलो की जो कल्पना की गई है, वह निराधार नही है। धर्म के विषय मे भी इन दोनो प्रकार के फलो की कल्पना भुलाई नही जा सकती। धर्म से जो फल मिलने वाला है, वह तो मिलेगा ही; लेकिन तुम धर्म द्वारा ऐसे फल की आकाक्षा न करो कि धर्म से हमे साता-सुख की प्राप्ति हो। सांसारिक सुखो के प्रति अरुचि ही धर्म के फल-स्वरूप चाहो। इस प्रकार का विचार रखते हुए कदाचित् परम्परा फल-स्वरूप इन्द्रपद भी मिल सकता है, किन्तु उसकी आकाँक्षा मत करो। आकाक्षा धर्म का मैल है उससे धर्मभावना कलुषित हो जाती है और धर्म का प्रधान फल मिलने मे रुकावट होती है।

धर्म के प्रति लोगो को अश्रद्धा क्यो उत्पन्न होती है। इसका सामान्यतः कारण यह है कि लोग जिस साता-सुख

में फँस जाते हैं, उन सुखो के पीछे रहे हुए विकारो को या दु:खो को वह देखते नही और इसी कारण धर्म पर उनकी श्रद्धा नही जमती । अतएव सब से पहले यह देखना चाहिए कि धर्म के द्वारा तो सुख-साता चाही जाती है, उसके पीछे सुख रहा हुआ है या दु:ख ? साँसारिक सुखो के पीछे क्या छिपा हुआ है, यह देखने से प्रतीत होता है कि वहा एकात दु:ख ही दुःख है । इस प्रकार दु ख की प्रतीति होने पर फल-स्वरूप धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी । यह बात विशेषतया स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए, जिससे सब सरलतापूर्वक समझ सके ।

एक नगर मे दो मित्र रहते थे। उनमें से एक मित्र धर्म पर श्रद्धा रखता था और सासारिक सुखो को दु:खरूप मानता था । दूसरा मित्र ससार के भोगविलास को सुखरूप समझता था। पहला मित्र दूसरे को बार-बार समझाता था कि ससार मे एक भी ऐसी वस्तु नही जो दु खरहित हो तब दूसरा मित्र पहले से कहता 'भाई साहब! संसार मे उत्तम भोजन-पान, नाचरग और स्त्रीभोग मे जैसा सुख है वैसा सुख और कही नही है।' इस प्रकार दोनो एक दूसरे की भूल बतलाया करते थे। अन्त में एक बार पहले मित्र ने कहा— इसका निर्णय करने के लिए मैं एक उपाय बतलाता हूं । आप राजा के पास जाओ और उनसे कहो-मैं आपको अमुक भेंट देना चाहता हू। आप वह भेंट लेकर दो घडी के लिए पाखाने मे बैठ जाइए।' क्या राजा तुम्हारी यह प्रार्थना स्वीकार करेगा ? दूसरे मित्र ने कहा नही !' तब पहले मित्र ने प्रश्न किया 'राजा तुम्हारी प्रार्थना क्यों स्वीकार नही करेगा ? क्या धन मे सुख नही है ?' दूसरे

मित्र ने उत्तर दिया—'धन में सुख तो है, फिर भी राजा ऐसी शर्त मंजूर नही कर सकता।' वह उलटा मुझे मूर्ख बतलायेगा। वह कहेगा, कही इस भेट के खातिर पाखाने मे जाया जाता है! मैं ऐसा करूँगा तो दुनिया मूर्ख कहेगी।

'राजा धन की भेंट पाकर के भी जिस पाखाने में बैठने के लिए तैयार नही होता, उसी में बिठलाने का काम मै सरलता से ही कर सकता हूं।' यह कह कर पहला मित्र स्वादिष्ट चूर्ण तैयार करके राजा के पास ले गया। राजा को उसने चूर्ण बतलाया। राजा ने चूर्ण चखा। देखा कि चूर्ण स्वादिष्ट है तो उसकी तबीयत खुश हो गई। स्वादिष्ट होने के साथ चूर्ण मे एक गुण यह भी था कि उसके खाने से दस्त जल्दी और साफ लगता था। स्वादिष्ट होने के कारण राजा ने चूर्ण खा तो लिया, मगर उसके खाने से थोडी ही देर बाद उसे शौच की हाजत हुई। राजा उठकर पाखाने मे जाने लगा। तब चूर्ण वाले मित्र ने कहा—'महाराज! विराजिये, कहाँ पधारते हैं?' राजा बोला—'पाखाने जाना है।' उसने उत्तर दिया 'महाराज! पाखाना कैसा दुर्गन्ध वाला स्थान है! आप महाराज हैं। सुगधमय वातावरण मे रहने वाले हैं। फिर उस सडने वाले पाखाने मे क्यो पधारते है?' राजा ने कहा—'तू तो महामूर्ख मालूम होता है। दुर्गन्ध के बिना कही काम भी चलता है? शरीर का ऊपरी भाग कैसा ही क्यो न हो, मगर इसके भीतर रक्त, मास आदि जो कुछ है वह सब तो दुर्गन्ध वाला ही है। इसी दुर्गन्ध के आधार पर शरीर टिका हुआ है' यह सुनकर पहले मित्र ने कहा—'ठीक है। जब आप

पाखाने में गये बिना रह ही नही सकते तो आपसे कुछ अधिक कहना बेकार ही है।

पहले मित्र ने यह सब दूसरे मित्र को बतलाते हुए कहा— 'तुम हजारो रुपयो को भेंट देने को थे, फिर भी आशा नही थी कि राजा पाखाने मे बैठने को तैयार होगा। लेकिन मैंने पाखाने में न जाने के लिए राजा से प्रार्थना की, फिर भी राजा रुका नही। इसका क्या कारण है ? इसका एकमात्र कारण यह चूर्ण है। राजा ने चूर्ण न खाया होता तो इस समय वह पाखाने मे न गया होता। इस प्रकार ससार मे एक भी ऐसा पदार्थ नही है, जिसके पीछे दुःख न छिपा हो।' पहले मित्र की इस युक्ति से दूसरा मित्र समझ गया कि जिसे वह सुख माने बैठा है, उस सुख के पीछे भी दुःख रहा हुआ है।

इसी प्रकार आधुनिक भौतिक विज्ञान के विषय में भले ही कहा जाये कि विज्ञान द्वारा इतने सुख-साधन प्राप्त हुए हैं, किन्तु साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि इन वैज्ञानिक सुख-साधनो के पीछे कितने भयकर दुःख छिपे हुए हैं। धर्म के प्रति श्रद्धा न होने के कारण ही लोग विज्ञान पर मोहित हो रहे हैं। मगर जब धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी तब ससार के समस्त पदार्थों पर अरुचि उत्पन्न हो जायेगी। साप को पकडने की इच्छा तभी तक हो सकती है, जब तक यह न मालूम हो जाये कि इस साँप मे विष है। साँप ऊपर से कोमल दिखाई देता है मगर उसकी दाढ मे विष भरा होता है। इसी कारण लोग उससे दूर भागते हैं। साप मे विष न होता तो उसकी कोमलता

देखकर लोग उसे गले का आभूषण बना लेते । मगर विष होने के कारण कोमल होने पर भी उसे कोई हाथ मे लेना नही चाहता । इसी तरह जब तक धर्म पर श्रद्धा नही होती, तब तक मालूम नही होता कि सातासुख में कैसा दु.ख छिपा हुआ है। धर्मश्रद्धा उत्पन्न होते ही साता-सुख मे दु.ख-रूपी विष का पता चलता है । तब उसके प्रति स्वभावत अरुचि पैदा हो जाती है । इस तरह जब साता-सुख मे रुचि न रहे तब समझना चाहिए कि हम मे धर्मश्रद्धा है । सभी जानते हैं कि शरीर मे दुर्गन्ध है और दुर्गन्ध के आधार पर ही शरीर को स्थिति है । फिर भी कोई दुर्गन्ध पसन्द नही करता । जब दुर्गन्ध पसन्द नही है तो दुर्गन्ध के घर इस शरीर पर क्यो ममत्व रखा जाता है ? कहावत है—

पगिया बाँधे पेंच सवारे, फूले गोरे तन मे ।
धन जोवन डूगर का पानी, ढलक जाय इक छन मे ।
मुखडा क्या देखे दर्पण मे, तेरे दयाधर्म नही मन मे ।

अर्थात्—अपना सुन्दर शरीर देखकर लोग फूल जाते हैं । उसे अधिक सुन्दर बनाने के लिए पगडी-टोपी सवार कर पहनते है । भाति-भाति के सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं और फिर अपने सौन्दर्य की परीक्षा के लिए दर्पण में मुख देखते है । मगर ज्ञानीपुरुष कहते है कि जिस शरीर को तेल-इत्र लगाया जाता है, वह किस क्षण नष्ट हो जायेगा, इसका क्या भरोसा है ? जैसे पहाड पर बरसा पानी क्षण-भर मे नीचे आ जाता है, उसी प्रकार यह 'तनरग पतग सरीखो जाता वार न लागेजी' इस कथन के अनुसार धन-यौवन-रूपरग वगैरह पलभर मे समाप्त हो जाते हैं। अत-

एव जगत् के जीवो ! दर्पण मे मुखड़ा क्या देखते हो ! दयाधर्म के पालन से तुम्हारी आत्मा की कितनी शोभा बढ सकी है, यह बात ज्ञानरूपी दर्पण में देखो । इससे तुम्हारा कल्याण हो सकता है ।

शास्त्र की जो चर्चा चल रही है वह हितकारी, सरल और सुलभ है । इस धम-चर्चा का विरोधी कोई नही हो सकता । आप किसी भी विरक्त महात्मा के पास जाइए, वह आपको ससार से विरक्त होने का ही उपदेश देगे । आज भी स्वय ससार के पदार्थों का मूल खोजो और उसे खोजकर वैराग्य धारण करो । शरीर ऊपर से कितना ही सुन्दर दिखाई देता हो, लेकिन यह देखो कि उसमे कितना विकार भरा है ! जो नाक सु दरता की जड समझी जाती है, उसे काटकर हथेली मे लो तो कैसी बुरी मालूम होगी ! जैसे शरीर ऊपर से अच्छा मालूम होने पर भी भीतर से खराब है और ऊपर से देखने वाले उस पर मुग्ध हो जाते है, उसी प्रकार विषयभोगो मे भी विकार भरा हुआ है, लेकिन ऊपरी विचार करने वाले उन पर मोहित हो जाते हैं ! अन्तःकरण मे जब धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी तो सासारिक सुखो के प्रति वैराग्य उ पन्न होगा और जब वैराग्य होगा तो सासारिक पदार्थो के प्रनि अरुचि उत्पन्न हुए विना नही रहेगी ।

धर्मश्रद्धा का क्या फल मिलता है, यह प्रश्न चल रहा है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है :—

धम्मसद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, आगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं

संसार के पदार्थों मे कोई स्थूल होता है और कोई सूक्ष्म होता है । मगर देखना चाहिए कि स्थूल वस्तु से काम चलता है या सूक्ष्म से ? यहाँ स्थूल और सूक्ष्म का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु आखो से दिखाई दे सके वह स्थूल है और जो दिखाई न दे सके वह सूक्ष्म है । अपने शरीर में भी सूक्ष्म और स्थूल दोनो प्रकार की वस्तुए मौजूद है । मगर भूल तो तब होती है जब मनुष्य स्थूल वस्तुओ पर ललचा जाता है और सूक्ष्म वस्तुओ को भुला देता है । परन्तु वास्तव मे स्थूल वस्तु, सूक्ष्म के सहारे ही रही हुई है और सूक्ष्म वस्तु के बिना तनिक भी काम नही चल सकता ।

कल्पना कीजिए, स्थूल शरीर मे से सूक्ष्म प्राण निकल जाये तो स्थूल शरीर किस काम का रहेगा ? किसी मृत स्त्री का शव वस्त्राभूषणो से अलकृत कर दिया जाये तो भी क्या किसी पुरुष को वह आकर्षित कर सकेगा ? स्त्री का स्थूल शरीर तो जैसा का तैसा सामने पडा है । सिर्फ सूक्ष्म प्राण उसमे से निकल गये है । इसी कारण उसे कोई स्पर्श भी नही करना चाहता । इस प्रकार स्थूलता, सूक्ष्मता के आधार पर ही स्थिर है । अतएव सूक्ष्मता की सर्वप्रथम आवश्यकता है । जब तुम सूक्ष्म आत्मा को पहचानोगे तो परमात्मा को भी पहचान सकोगे । आत्मा सूक्ष्म है, फिर भी वही सब से अधिक प्रिय है । दूसरी जो वस्तुए प्रिय लगती है वह भी आत्मा के लिए ही प्रिय लगती हैं । सूक्ष्म आत्मा न होती तो स्थूल वस्तु किसी को भी प्रिय न लगती । मुर्दा को आभूषण पहना दिये जाए तो चाहे पहनाने वाले को आनन्द प्राप्त हो, मगर मुर्दा को किसी प्रकार का आनन्द

नही हो सकता। मुर्दे को आनन्द क्यो नही मिलता ? इसलिए कि उसमे से सूक्ष्म आत्मा निकल गया है। स्थूल शरीर तो सामने पडा ही है, मगर सूक्ष्म आत्मा नही है। यह बात ध्यान मे रखकर तुम मुर्दा जैसी स्थूल वस्तु पर क्यो मुग्ध होते हो ? तुम जीवित हो तो जीवित वस्तु अपनाओ अर्थात् सूक्ष्म आत्मा को देखो। स्थूल वस्तु पर मुग्ध मत बनो।

पर परिणामिकतायता छे जे पुद्गल तुझ योग हो मित्त,
जड चल जगनी एठणो न घटे तुझने भोग हो मित्त।
क्यो जाणुं क्यां बनी आवशे अभिनदन रस रीति हो मित्त,
पुद्गल-अनुभव त्याग थी करवी तस परतीति हो मित्त।

कोई कह सकता है— आप हमें परमात्मा की भक्ति करने का उपदेश देते हैं, पर हम परमात्मा की प्रीति-भक्ति किस प्रकार कर सकते हैं ? हमारा आत्मा कर्मलिप्त है और परमात्मा पवित्रात्मा है। इस प्रकार हम उस सच्चिदानन्द को किस तरह भेट सकते है ?

कोई मनुष्य शरीर पर अशुचि धारण कर ले तो वह राजा से मिल सकता है ? कदाचित् ऐसा गन्दा आदमी राजा से मिलने की इच्छा करे तो क्या राजा उससे मिलना चाहेगा ? कदाचित् राजा भी ऐसे आदमी से मिलना चाहे तो क्या उस आदमी की राजा से मिलने की हिम्मत हो सकेगी ? इसी प्रकार हमारा आत्मा कर्मों से मलीन है। इस अवस्था में हम पवित्र और सच्चिदानन्द परमात्मा से किस प्रकार मिल सकते है ? इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते हैं कि राजा से मिलने में तो कोई बाधा भी

उपस्थित हो सकती है, परन्तु परमात्मा से मिलने की इच्छा होने पर कर्म भी दूर भाग जाते है । अतएव हृदय मे परमात्मा से मिलने का शौक पैदा करना चाहिए ।

अगर है शौक मिलने का तो हरदम लौ लगाता जा ।

परमात्मा से मिलने का शौक पैदा होने पर परमात्मा का मिलन अवश्य होता है । परमात्मा से मिलने का शौक किस प्रकार पैदा हो सकता है, इस विषय मे कहा गया है कि पर-पदार्थों का त्याग कर दो । जो तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य नही करते वह सब पर-पदार्थ है । जब तक पर-पदार्थों के प्रति ममता का भाव विद्यमान रहता है, तब तक परमात्मा से मिलने का शौक पैदा नही होता और जब तक परमात्मा से मिलने का शौक ही उत्पन्न नही होता तब तक परमात्मा से भेट हो ही कैसे सकती है ? तुम शरीर पर ममत्व रखते हो परन्तु शरीर तुम्हारी आज्ञा के अधीन है? इस शरीर के पीछे कैसे-कैसे दु ख लगे हुए हैं ? क्या तुम वह दु ख चाहते हो ? नही। तो फिर क्यो शरीर पर ममता रखते हो ? शरीर पर ममता रखने के कारण ही शारीरिक दु ख उठाने पडते है । शरीर के पीछे कैसे-कैसे दु ख लगे है, इस वात का वर्णन करते हुए कहा गया है—

जम्मदुक्खं जरादुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हि संसारो जत्थ किच्चइ जंतुणो ।।

— उत्तराध्ययन, १९ = १६

अर्थात्—जन्म दु.खरूप है जरा दु खरूप है, रोग तथा मरण दु खरूप है । अरे यह ससार ही दु खरूप है, जहाँ जीव दु ख पाते हैं ।

शरीर जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु आदि से घिरा है। शरीर का यह स्वरूप जानते हुए भी इसे अपना मानना कितनी बडी भूल है। तुम जिस शरीर पर ममत्व रखते हो, उस शरीर को टिका रखने मे समर्थ हो ? तुम्हारे-हमारे शरीर की तो बात ही क्या है ! जिनके शरीर की रक्षा दो–दो हजार देव –करोड चक्रवर्तियो की शक्ति वाला एक-एक देव होता है - करते हैं, उनका शरीर भी सुरक्षित नही रह सका ! सनत्कुमार चक्रवर्त्ती के शरीर मे जब रोग उत्पन्न हुए तो क्या देव भी उसे बचा सके थे ? रोगो से सुरक्षित रख सके थे ? जब देव भी शरीर की रक्षा करने मे और शरीर टिकाये रखने मे सहायक न हो सके तो दूसरो से क्या आशा की जा सकती है ? और इस तरह शरीर भी तुम्हारा नही रह सकता तो अन्य पदार्थ तुम्हारे किस प्रकार रह सकेगे ?

ससार के स्थूल पदार्थ पुद्गलो से बने हैं। गलना, सडना, नष्ट होना और विखर जाना पुद्गलो का स्वभाव है। पुद्गलो का स्वभाव जड और चल है। यह जड पदार्थ ससार की जूठन हैं। मकोडे गुड की भेली खा जाएँ और उसके स्थान पर हग जाएँ तो क्या वह गुड खाने की आपकी इच्छा होगी ? नही। आप यह वात तो समझते हैं, मगर अन्य पुद्गलो के विषय मे भी यह वात समझ लीजिए। क्या ससार मे कोई पुद्गल ऐसा है जो अब तक किसी के उपभोग मे न आया हो ? अगर कोई भी पुद्गल ऐसा नही है तो पुद्गल को ससार की जूठन क्यो न कहा जाये ? पुद्गल मात्र दुनिया की जूठन है। इस जूठन के उपयोग

की इच्छा क्यो करते हो ? जब तुम पुद्गलों के गलन-स्वभाव की बात समझ जाओगे तब सासारिक पदार्थों के प्रति तुम्हें स्वभावत अरुचि विरक्ति उत्पन्न हो जायेगी और जब सासारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति हो जायेगी तो परमात्मा के साथ अवश्य भेट होगी। अतएव अगर परमात्मा से भेट करने की इच्छा हो तो सासारिक पुद्गलो पर से ममता का भाव त्याग दो।

पुद्गल-लोभी जीवा, तेने जग्या न अन्तर दीवा। -

जो जीव पुद्गलो का लोभी बनकर उनके ममत्व में पड़ा रहता है, उसके हृदय मे परमात्मा से मिलने की भावना नही जागती। पौद्गलिक पदार्थों की खोज करते-करते जब 'नेति-नेति अर्थात् यह वह नही है,' ऐसा कह-कर छोडते जाओगे तभी परमात्मा का साक्षात्कार होगा। वेदान्तस्तोत्र मे कहा है—

हित्वा हित्वा दृश्यमशेष सविकल्प,
मत्वा श्रेष्ठ भादृशमात्रं गगनाभम्।
त्यक्त्वादेह चानुप्रविशन्त्यच्युतभक्त्या,
तं ससारध्वान्तविनाश हरिमीडे॥

इस स्तोत्र का भावार्थ यही हो सकता है कि परमात्मा से भेटने का सरल मार्ग यह है कि पौद्गलिक पदार्थों को यह कहकर छोडते जाओ कि— 'यह परमात्मा नही है।' तुमने आत्मा को पौद्गलिक इच्छा का जो वेष पहना दिया है, वह वेष उतार कर फेंक दो। तुम पुद्गलो की इच्छा न करो। उल्टा ऐसा विचार करो कि पुद्गलो का भोग करना मेरे लिए योग्य नही है। क्योकि पौद्गलिक पदार्थ

जड, नाशवान् और जगत् की जूठन के समान हैं। पौद्गलिक पदार्थों का यह स्वरूप समझ मे न आने के कारण ही उनके प्रति ममत्व–भाव जागृत होता है । लेकिन धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होने पर यह बात समझ मे आ जायेगी कि पर-पदार्थों मे रुचि रखना एक प्रकार से आत्मविकास मे बाधा उत्पन्न करना है । धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने से सासारिक पदार्थों के प्रति अरुचि और विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नही रहती । अतएव धर्मश्रद्धा जागृत करो तो पर–पदार्थों मे रुचि भी नही रहेगी और आत्मविकास साधने मे बाधा भी खडी नही होगी ।

कहने का आशय यह है कि धर्म स्थूल नही, सूक्ष्म है और इस कारण वह दिखाई नही देता । फिर भी प्राण के समान उसकी आवश्यकता है । जब धर्म की आवश्यकता है तो उसे जीवन मे उतारने के लिए श्रद्धा की भी आवश्यकता है । धर्मश्रद्धा जागृत होने पर सासारिक पदार्थो के प्रति विरक्ति हो जाती है । इस विरक्ति से क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि सासारिक पदार्थो पर विरक्ति होने से मनुष्य गृहस्थधर्म का त्याग कर अनगारधर्म स्वीकार कर लेता है ।

सूत्र में प्रत्येक बात की सूचना मात्र की जाती है । यह सूचना हृदय मे जितनी फैलाई जाये, उतना ही अधिक प्रकाश मिलता है । सूर्य एक ही है, मगर उसका प्रकाश इतना फैला होता है, उसी प्रकार सूत्र के शब्द भी जीवन मे अपार प्रकाश डालने वाले हैं । अतएव सूत्र मे कही हुई इस बात पर भी विस्तारपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है ।

धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने से हृदय मे सासारिक पदार्थों के प्रति अरुचि और विरक्ति की उत्पत्ति होती है और विरक्ति उत्पन्न होने से आगारधर्म का त्याग कर अनगार-धर्म स्वीकार किया जाता है । विरक्त पुरुष सासारिक बन्धनो का त्याग कर देता है । धर्मश्रद्धा से वैराग्य होगा और वैराग्यवान् पुरुष अनगार बन जाएगा । इस प्रकार धर्मश्रद्धा का फल तो अनगारिता को स्वीकार करता है । लेकिन आजकल तो कुछ लोगो को धर्म का नाम तक नही सुहाता । ऐसी स्थिति मे यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि लोगो मे धर्मश्रद्धा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिनमे धर्मश्रद्धा होती है उन्हें सासारिक पदार्थों के ऊपर वैराग्य होता है और जिन्हे वैराग्य होता है, वह अनगारिता स्वीकार कर लेते है। आपमे से किसी को मिट्टी के बदले सोना मिलता हो तो आप उसे लेते देर लगाएँगे? नही । इसी प्रकार जिसके अन्त करण में धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी और जिसे सासारिक पदार्थों पर विरक्ति हो जायेगी वह अनगारिता स्वीकार करने मे विलम्ब नही लगाएगा । वास्तव मे दीक्षा का पात्र वही है, जिसका मन ससार से विरक्त हो गया हो । जिसका मन सासारिक पदार्थों मे अनुरक्त है वह दीक्षा का पात्र नही है, ऐसा समझ लेना चाहिए ?

अनगारधर्म स्वीकार करने के पश्चात् मजा–मौज नही लूटी जाती। वरन् भगवान् की आज्ञा का पालन करना पडता है । 'एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो' ऐसी आज्ञा भगवान् ने साधुओ को दी है । कदाचित् गृहस्थ

अपने गृहस्थ होने का बहाना करके भगवान् की आज्ञा से दूर भी हो सकते हो, मगर हम साधु तो उनकी आज्ञा पालने के लिए ही उनके सैनिक बने हैं। कितना ही उत्सर्ग क्यो न करना पडे, हमे तो भगवान् की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए। जब युद्ध चल रहा हो तो दूसरे लोग भले ही भाग जाएँ, मगर यदि सैनिक ही युद्ध से भाग गये तो उन्हे क्या कहा जायेगा ? इसी प्रकार हम साधु तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही निकले हैं। हमे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी ही चाहिए।

कहने का आशय यह है कि धर्मश्रद्धा जागृत होने पर सांसारिक पदार्थों पर वैराग्य आ ही जाता है। जिसे वैराग्य आ जाता है वह अनगारधर्म को स्वीकार करता है। और जिसनें वैराग्य-पूर्वक अनगारधर्म स्वीकार किया है, वही पुरुष अनगारधर्म का भलीभाँति पालन कर सकता है।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र मे पालित श्रावक का वर्णन आता है। उसमे कहा है - पालित श्रावक था और जैनशास्त्रों का ज्ञाता था। वह व्यापार के लिए समुद्रयात्रा भी करता था। एक बार समुद्रयात्रा करता-करता पिहुंड नामक नगर में आया। वहा पालित को बुद्धिमान और व्यापारकुशल समझ कर एक गृहस्थ ने अपनी कन्या के साथ विवाह कर दिया।

इस प्रकार विदेश मे किसी की कन्या के साथ श्रावक का विवाह हो सकता है ? अगर कोई ऐसा करता है तो क्या वह जैन कहला सकता है ? मगर पहले के लोग आज-कल के लोगों की भाँति सकुचित विचार के नही थे। आज तो जाति के नाम पर निकम्मे बन्धन खडे किये गये हैं।

प्राचीनकाल में ऐसे बन्धन नही थे। उस समय तो वर-कन्या की योग्यता और समानता देखी जाती थी। आज यह देखा जाता है कि वर के पास धन है या नही ?— अगर धन हो तो क्या साठ वर्ष का धनिक वृद्ध भी छोटी-सी कन्या के साथ विवाह करने को तैयार होता नही देखा जाता ? यह क्या कन्या के ऊपर अत्याचार-अन्याय नही है ? लोकलज्जा के कारण या किसी अन्य कारण से तुम्हे इस विषय मे कुछ कहते सकोच होता होगा, लेकिन समाज का अन्न ग्रहण करने के कारण मुझे तो समाज के हित के लिए बोलना ही पडेगा ! इसलिए मैं तुमसे कहता हू इस प्रकार के वृद्धविवाह, अयोग्यविवाह, अनमेल-विवाह आदि समाज-नाशक विवाहों को प्रत्येक उचित उपाय से रोको। समाज मे इस प्रकार के जो अन्याय हो रहे है, उन्हे अगर तुम नही ही रोक सकते तो कम से कम इतना करो कि अपने आपको इन अन्यायो से जुदा रखो। अन्याय के इन कार्यों मे सहभागी मत बनो। अन्याययुक्त कार्यो से अपने आपको अलग न रख सकने वाला और पुद्गलो के लोभ पर विजय प्राप्त न कर सकने वाला-पुद्गलो का लोभी मनुष्य अत्यन्त शिथिल है। ऐसा ढीला मनुष्य धर्म का पालन किस प्रकार कर सकता है ? वह आत्म-कल्याण के लिए अनगार कैसे बन सकता है ?

पालित श्रावक का विवाह अन्तर्देशीय (परदेशीय) और अन्तर्जातीय (परजातीय) कन्या के साथ हुआ। कुछ समय पश्चात् अपनी उस नवविवाहित पत्नी को लेकर समुद्रमार्ग से पालित अपने घर की ओर रवाना हुआ।

पालित की वह पत्नी गर्भवती थी। उसने समुद्र के अन्दर जहाज मे ही पुत्र का प्रसव किया।

आज के लोग कहते हैं कि आधुनिक जहाजो में ही इस प्रकार की सुविधाएँ होती हैं, मगर पुराने वर्णनों से प्रतीत होता है कि उस समय भी जहाजो मे कितनी सुन्दर सुविधाएँ होती थी। प्रसवकाल अत्यन्त कठिन होता है। लेकिन प्राचीनकाल के लोग जहाज में भी उस स्थिति को सभालने मे समर्थ होते थे।

पालित का पुत्र समुद्र मे जन्मा, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रक्खा गया। पालित अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर घर पहुचा। पालित ने समुद्रपाल को बहत्तर कलाओं में पण्डित बनाया।

वही सच्चे माता-पिता है जो अपनी सन्तानो को कलाशिक्षण द्वारा शिक्षित और सस्कारी बनाते हैं। कहावत है—'काचा सूत जैसा पूत।' अर्थात् बालक कच्चे सूत के समान हैं। जैसा बनाना हो वैसे ही वह बन सकते है। आप वस्त्र पहनते हैं, किन्तु वस्त्र की जगह यदि सूत लपेट लो तो क्या ठीक कहलाएगा ? नही। इसी प्रकार बालक कच्चे सूत के समान हैं। जैसा चाहो उन्हे वैसा ही बना लो। अगर आप बालक को जन्म देकर ही रह गये और उन्हे सस्कारी नही बनाया तो वे कच्चे सूत की तरह ही निकम्मे रह जाएँगे।

प्राचीनकाल के लोग अपने बालक को बहत्तर कला के कोविद और शास्त्र मे विशारद बनाते थे। ऐसा करके वह माता-पिता की हैसियत से अपना कर्त्तव्य पूरा करते

थे । लेकिन आज कितने माँ-बाप ऐसे है जो अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन करते हैं ? पहले के लोग अपनी सतान को, जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए, बहत्तर कलाएँ सिखलाते थे । मगर आज कितने लोग हैं जो अपने ही जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकते हैं ? आज मोटर मे बैठकर मटरगस्त करने वाले तो है मगर ऐसे कितने हैं जो स्वय मोटर बना सकते हो या मोटर सुधार भी सकते हो ? जो मनुष्य स्वय किसी चीज का बनाना नही जानता, वह उसके लिए पराधीन है । आप भोजन करते हैं पर क्या भोजन बनाना भी जानते है ? अगर नही जानते तो क्या आप पराधीन नही हैं ? पहले बहत्तर कलाएँ सिखलाई जाती थी, उनमे अन्नकला भी थी । अन्नकला के अन्तर्गत यह भी सिखलाया जाता था कि अन्न किस प्रकार पकाना और खाना चाहिए ?

'लोग कहते हैं कि जैनशास्त्र सिर्फ त्याग ही बतलाता है, लेकिन जैनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट दिखाई देगा कि जैनशास्त्र जीवन को दु.खी नही वरन् सुखी बनाने का राजमार्ग प्रदर्शित करता है । जैन-शास्त्र बतलाता है कि जीवन किस प्रकार सांस्कारिक और सुखमय बनाया जा सकता है और किस प्रकार आत्मकल्याण-साधन किया जा सकता है ?'

समुद्रपाल युवक हुआ । पालित ने योग्य कन्या के साथ उसका विवाह कराया । आज के लोग अपनी सतान का विवाह छुटपन मे गुडिया-गुड्डा को भाति करा देते हैं । वृद्धविवाह को अपेक्षा भी बालविवाह को मैं अधिक

भयङ्कर समझता हू । बालविवाह से देश, समाज और धर्म को अत्यन्त हानि पहुंचती है। वह हानि कितनी और किस प्रकार पहुचती है, यह बतलाने का अभी समय नही है । किसी अन्य अवसर पर इस विषय मे मैं अपने विचार प्रकट करूँगा ।

समुद्रपाल का विवाह रूपवती और सुशीला कन्या के साथ किया गया था । एक दिन समुद्रपाल अपने भवन के झरोखे मे बैठा था । वहा उसने देखा—

कालो मुख कियो चोर नो फेरो नगर मँझार,
समुद्रपाल तिन जोइने, लीनो सजम-भार ।
जीवा चतुर सुजान, भज लो नी भगवान् ,
मुक्ति नो मारग दोयलो, तज दो नी अभिमान ।

समुद्रपाल ने झरोखे मे बैठे-बैठे देखा कि एक मनुष्य का मुँह काला करके उसे फासी पर चढने का पोशाक पहनाया गया है। उसके आगे बाजे बज रहे हैं और बहुतसे लोग उसके साथ चल रहे हैं । फिर भी वह मनुष्य उदास है । यह दृश्य देखकर समुद्रपाल विचारने लगा—यह मनुष्य उदास क्यो है ? और इसे इस प्रकार क्यो ले जाया जा रहा है ? तलाश करने पर मालूम हुआ कि उसने इन्द्रियो के वश होकर राज्य का अपराध किया है और राजा ने उसे फासी पर लटका देने का दण्ड दिया है । यह जानकर समुद्रपाल फिर विचार करने लगा—'इन्द्रियो के वश होने के कारण यह पुरुष फासी पर लटकाया जा रहा है। वास्तव मे इन्द्रियो के भोग ऐसे ही है। इन्द्रियो के भोग इन सासारिक पदार्थों ने ही मेरे इस भाई को फाँसी पर चढाया है।

इन पदार्थो की बदौलत कही मेरी भी यही दशा न हो जाये ! अतएव मेरे लिए यही उचित है कि मै पहले हो इन्द्रियभोग के सासारिक पदार्थो का परित्याग कर दू !'

इस प्रकार विचार करते-करते समुद्रपाल वैराग्य के रग मे रग गया। उसने सयम स्वीकार कर लिया। जब धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है तब सासारिक वस्तु का मूल स्वरूप खोजा जाता है और फलस्वरूप सासारिक पदार्थो के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रहता और जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तब सयम स्वीकार करने मे भी देर नही लगती। सासारिक पदार्थ मनुष्य को किस प्रकार ससार मे फँसाते है और दु.ख देते हैं, यह बात समझने योग्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनगारिता स्वीकार करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से शारीरिक और मानसिक दु खो से मुक्ति मिलती है।

शारीरिक और मानसिक दु खो मे ससार के सभी दु खो का समावेश हो जाता है। शारीरिक दु खो मे छेदन-भेदन, ताडन आदि दु खो का समावेश होता है। शरीर का बाहर से छेदा जाना छेदन कहलाता है और भीतर से छेदा जाना भेदन कहलाता है। थप्पड मारना, घूंसा मारना आदि ताडन कहलाता है। इस प्रकार छेदन, भेदन, ताडन आदि शारीरिक कष्ट है।

इष्ट का वियोग और अनिष्ट का सयोग आदि दु खो का मानसिक दु ख से समावेश हाता है। इष्ट वस्तु के

वियोग से और अनिष्ट पदार्थ के संयोग से मन को जो दुःख होता है, वह मानसिक दुःख कहलाता है। मानसिक दुःख आर्त्तध्यान मे गिना गया है। आर्त्तध्यान के विषय में श्री उववाई सूत्र में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ विस्तृत विचार करने का समय नही है। अतः सक्षेप में इतना ही कहता हू कि मानसिक दुःख अर्थात् आर्त्तध्यान दूर करके परमात्मा की प्रार्थना करने से आत्मकल्याण हो सकता है। आर्त्तध्यान का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है –

इष्टवियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट योग दुःखारी।
तन की व्यापी मन ही भूरे, अग्रशोच करि वंछित पूरे।
ये आर्त्तध्यान के चारो पाये, महा मोहरस से लिपटाये॥

अर्थात्–इष्ट वस्तु का वियोग होने से तथा अनिष्ट वस्तु का सयोग होने से महान् मनस्ताप अर्थात् मानसिक दुःख उत्पन्न होता है। शारीरिक व्याधि के कारण भी मन जलता रहता है और भविष्य मे कौन जाने क्या होगा, अतएव अमुक वस्तु मिल जाय तो अच्छा है, इस भविष्य सम्बन्धी विचार से भी मानसिक दुःख होता है। इन चार प्रकारो से होने वाला मनस्ताप आर्त्तध्यान कहलाता है। धर्मध्यान करने के लिए आर्त्तध्यान से दूर रहना आवश्यक है।

शास्त्र मे कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से छेदन-भेदन-ताडन रूप शारीरिक दुःख तथा इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग आदि मानसिक दुःखो से छुटकारा मिल जाता है। शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए ही अनगारिता स्वीकार की जाती है। अतएव साधुओ और साध्वियो से मुझे यही कहना है कि हमे खूब गम्भीर विचार

करना चाहिए कि हमने किस उद्देश्य से गृहत्याग किया है और शिरोमुण्डन कराया है ? अगर हमने शारीरिक और मानसिक दुखो से बचने के लिए ही गृहत्याग किया हो तो सब से पहले हमे यह बात समझ लेनी चाहिये कि दुख क्या है ? दु:ख का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए शास्त्र मे कहा गया है -

जम्मदुक्खं जरादुक्ख रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हि ससारो जत्थ किच्चइ जंतुणो ।,

— उत्त० १६-१६ ।

अर्थात्— जन्म दुखरूप है, जरा दुखरूप है, जन्म और जरा के बीच होने वाले रोग आदि भी दु:खरूप है और मरण का दुख तो सब से बडा है । इस प्रकार इस ससार मे दुख ही दुख हैं । ज्ञानीजन कहते हैं कि ससार को असार और दुखमय समझकर जो उसका त्याग करते हैं वे अनगारिता स्वीकार कर दुखमुक्त बन जाते हैं ।

यहाँ एक नया प्रश्न उपस्थित होता है । अनगारिता स्वीकार करने के पश्चात् अनगार ऐसा क्या करता है जिससे वह दु:खमुक्त हो जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह देखने की आवश्यकता है कि दु:ख आता कहाँ से है ? कुछ लोग दुख का मूल कारण न खोज सकने के कारण कहते हैं— 'दु:ख परमात्मा देता है, अदृष्ट से दुख होता है या काल दुख पहुचाता है ।' ऐसा कहने वाले लोगो को दुख का और कोई कारण मालूम नही हुआ, इस कारण उन्होने ईश्वर, अदृष्ट या काल पर दुख देने का दोषारोपण कर दिया है । मगर ज्ञानीजनो का कहना यह है कि आत्मा

ने स्वयं ही दु ख पैदा कर लिया है । यह ठीक है कि आत्मा अमृत के समान है दु खमय नही किन्तु सुखमय है, फिर भी उसने अपने आपको दु ख मे डुबो लिया है। आत्मा स्वभावत दु खमय होता तो उसे सुखी बनाने का उपदेश ही न दिया जाता । अगर दिया जाता तो वह निष्फल होता, क्योंकि जो स्वभावतः दु ख से घिरा हुआ है उसे दु ख-मुक्त कैसे किया जा सकता है ? जिसका मूल पहले से ही खराब है उसका सुधार किस प्रकार हो सकता है ? अतएव आत्मा अगर सदा दुःखमय होता तो कर्ममुक्त होने का उपदेश निरर्थक हो जाता - लेकिन वास्तव मे ऐसा नही है । आत्मा स्वभावत सुखसागर है। इसीलिए दु खमुक्त होने का उपदेश दिया जाता है । जब मूल शुद्ध होता है और ऊपर से कोई विकार-आवरण आ जाता है, तभी उसे दूर करने के लिए उपदेश दिया जाता है । ज्ञानी पुरुष आत्मा को दु.खमय नही मानते, बल्कि उनकी मान्यता तो यह है कि ईश्वर को दु ख देने वाला मानना उसे कलक लगाना है । अगर ईश्वर ही दुःख देता हो तो उसको प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है ? वास्तव मे ईश्वर दुःख नही देता और न अदृष्ट या काल ही दु ख देता है ।

लेकिन यह प्रश्न तो अब भी ज्यो का त्यो खडा है कि यदि आत्मा स्वभावत दु खमय नही है, ईश्वर दु ख नही देता, अदृष्ट या काल भी दु.ख नही पहुचाता तो फिर दु ख आता कहा से है ? इस प्रश्न के समाधान मे भगवान् ने इसी उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है कि दु ख का मूल कारण आत्मा का तृष्णा नामक विभाव ही है । तृष्णा से दु.ख

की उत्पत्ति होती है । उत्तराध्ययन में कही भगवान् की यह बात सब दार्शनिको को स्वीकार्य है। इसे कोई अस्वीकार नही करता । भर्तृहरि भी कहते है—

> आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला ।
> रागग्राहवती वितर्कगहना धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
> मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी ।
> तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥

कवि कहता है— आशा नामक एक नदी है , इस आशा–नदी मे मनोरथरूपी जल भरा हुआ है । जैसे पानी मे तरगें उठती हैं उसी प्रकार आशा–नदी के मनोरथरूपी जल में तृष्णा की तरगें उठती है । तृष्णा की ऐसी–ऐसी तरगे उठती हैं कि उनका पार पाना कठिन है । नदी में जैसे मगरमच्छ रहते है, उसी प्रकार आशा-नदी में राग-द्वेष रूपी मगरमच्छ रहते है । जहा तृष्णा होती है वहा राग-द्वेष भी होते ही है । नदी के किनारे पक्षी भी रहते है । इस आशा–नदी के किनारे कपट–वितर्क रूपी बगुला–पक्षी रहते हैं। आशा–तृष्णा के कारण ही झूठ–कपट सेवन करना पडता है । नदी मे जब पूर आता है तो वह किनारो के पेडों को भी उखाड फेंकता है । इसी प्रकार तृष्णा की अधिकता से धैर्य रूपी वृक्ष भी उखड जाता है । कितने ही लोग कहते हैं कि सामायिक में हमारा मन नही लगता, मगर जब तृष्णा बढी हुई हो तब मन सामायिक में कैसे लग सकता है ? तृष्णा धैर्य का नाश कर डालती है, और धैर्य के अभाव मे मन का एकाग्र न होना स्वाभाविक ही है । तृष्णा का उच्छेद किये बिना शाति नही मिलती । जैसे गहरी नदी

में भँवर पडते है, उसी प्रकार आशा-नदी में भी मोह के भँवर पडते हैं। मोह के भँवर-जाल मे फसा हुआ मनुष्य सरलता से बाहर नही निकल सकता। कुछ लोग ऐसे होते है जो ससार की असारता समझ गये हैं और ससार का त्याग करने की इच्छा भी रखते है, फिर भी मोह के कारण ससार का त्याग नही कर सकते। जब तक मनुष्य मोहावस्था मे फँसा रहता है तब तक आत्मोन्नति नही साध सकता। जैसे नदी मे तट होता है, उसी प्रकार आशा-नदी का तट चिन्ता है। जहा आशा-तृष्णा होती है वहा चिन्ता का होना स्वाभाविक ही है।

ऐसी दुस्तरा महानदी को कौन पार कर सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कवि ने कहा है—विशुद्ध भावनारूपी नौका मे बैठने वाले, इस नौका की सहायता से दुस्तरा आशा-नदी को पार कर लेते हैं। इस आशा-नदी को पार करने के लिए ही अनगार-धर्म स्वीकार किया जाता है। अनगारिता स्वीकार कर विशुद्ध भावना भाने वाले अनगार आशारूपी नदी पार करते हैं और इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक दु खो से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द प्राप्त करते है।

शारीरिक और मानसिक दु खो मे से कौन-सा दु ख बुरा है ? शारीरिक दु ख दूर करने के लिए डाक्टर है, लेकिन उनसे पूछो कि क्या वे मानसिक दु ख भी मिटा सकते है ? डाक्टर शारीरिक दु ख दूर कर सकते हैं, मानसिक दु ख दूर करना उनके सामर्थ्य से बाहर है। अतएव शारीरिक दु ख की अपेक्षा मानसिक दु ख महान् है। शास्त्र-

कार ही इस मानसिक दुख को दूर करने का उपाय बतलाते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि अगर तुम मानसिक दुख से मुक्त होना चाहते हो तो सर्वप्रथम दुखों के मूल तृष्णा को हटाओ। तृष्णा को दूर किये विना मानसिक दुख नही मिट सकता। कुछ लोग कहा करते है कि हमारा दुख मिटता नही है, किन्तु जब तक दुख का कारण तृष्णा मौजूद है, दुख किस प्रकार दूर होगा ?

प्रश्न किया जा सकता है—तृष्णा कैसे जीती जाये? इसके उत्तर मे कहा गया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात् चित्तप्रसादनम् ।'

अर्थात्—मैत्री, करुणा, प्रमोद और उपेक्षा की भावना करने से तथा इस प्रकार चित्त को प्रसन्न रखने से तृष्णा मिट सकती है और शाति प्राप्त हो सकती है।

इस कथन पर फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्ध भावना रखने से तृष्णा मिट जाती है, यह तो ठीक है, लेकिन भावना-शुद्धि का उपाय क्या है ? इस सम्बन्ध में कहा है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मेरे हृदय मे प्रत्येक जीव के प्रति मैत्रीभाव रहे, गुणीजनो के प्रति प्रमोदभाव रहे, दुखी जीवों

के प्रति मेरे हृदय मे करुणाभाव रहे और विपरीत वृत्ति वालो के प्रति मेरे हृदय मे समभाव रहे।

इस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रार्थना करना और तदनुसार जीवन-व्यवहार चलाना चित्तशुद्धि का मार्ग है। तृष्णा से निवृत्ति होने के लिए भावना की शुद्धि होना आवश्यक है। योग के लिए भी योगशास्त्र मे यही कहा गया है कि भावना शुद्ध हुए विना योग की सिद्धि नही होती।

आप सब लोग चित्तशुद्धि करने के लिए ही यहाँ एकत्र हुए हैं, मगर देखना चाहिए कि चित्त की शुद्धि किस प्रकार होती है? चित्त शुद्ध करने के लिए अथवा भावना को विशुद्ध बनाने के लिए योगसूत्र मे कहा है कि जीवो को सुखी देखकर अपने मे मैत्रीभावना प्रकट करो। सुखी को देखकर ही सुख का स्मरण होता है और सुख का स्मरण आने से सुखी-जन के प्रति ईर्षाभावना उत्पन्न होती है।

वन्दरो की टोली मे खाने-पीने की चीजो को लेकर ही झगडा होता है, लेकिन मनुष्यो मे झगडे के अनेक कारण है। इसका मूल कारण यही है कि सुखी जीवो को देखकर अन्त करण मे मैत्रीभावना प्रकट नही होती। सुखी जीवो को देखकर यदि मैत्रीभाव उत्पन्न हो तो झगडे उत्पन्न न हो और चित्त भी प्रसन्न रहे। जब किसी सुखी मनुष्य को देखो तो यह सोचकर ईर्षा मत करो कि इसे सुख क्यो मिला? यह सुख मुझे क्यो नही मिला? जहाँ ईर्षा या द्वेष होता है वहा मैत्रीभावना नही टिक सकती। जब किसी

मनुष्य को कामभोग के साधन प्राप्त नही होते और दूसरों को वह प्राप्त होते हैं, तब उसे दूसरे के प्रति ईर्षा–द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार मनुष्य दूसरे को सुखी देखकर आप दुःखी बन जाता है। इसी कारण ज्ञानीजन कहते हैं कि सुखी–जनो को देखकर अपने चित्त मे मैत्रीभाव लाओ।

प्रश्न किया जाता है कि ससार मे सभी तो सुखी हो नही सकते, कुछ लोग हमारी अपेक्षा भी अधिक दुःखी हैं। ऐसे दुखियो के प्रति हमे कैसा व्यवहार रखना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सुखी जीवो के प्रति मैत्रीभाव रखना बतलाया गया है, उसी प्रकार दुखियो के प्रति करुणाभावना रखनी चाहिए। दुःखी जीव अपने कर्मों के कारण दुःख भोग रहे है, इस प्रकार विचार करके उनके प्रति उपेक्षा रखना उचित नही है। करुणा दुःखी जीवो पर ही की जाती है, अतएव किसी दुःखी को देखकर यह मानना चाहिए कि मुझे करुणाभाव प्रकट करने का शुभ अवसर मिला है। आप लोग इस मानव-जीवन में रहकर दूसरो की जो भलाई कर सकते हैं, परोपकार कर सकते हैं और साथ ही आत्मकल्याण की जो साधना कर सकते हैं, वह देवलोक मे रहने वाले इन्द्र के लिए भी शक्य नही है। इस दृष्टि से विचार करो कि मानव-जीवन मूल्यवान् है या देव-जीवन? डाक्टरो को देवलोक भेजा जाये तो वह वहाँ जाकर किसकी दवा करेंगे? रोगी की दवा करने का अवसर तो यही प्राप्त होता है, वहा नही। अतएव दुखियो को देखकर उनके प्रति मन मे करुणाभावना लाना चाहिए। आप 'मित्ती मे सव्वभूएसु' अर्थात् सब जीवो के साथ मेरा

मैत्रीभाव है, इस प्रकार का पाठ तो प्राय प्रतिदिन उच्चारण करते होगे, मगर कभी यह भी देखते हो कि इसका पालन कहा तक किया है? जिसे आप अपना मित्र समझते हैं, क्या उसे दु ख मे ही रहने देना चाहिए ? जो सच्चे हृदय से किसी का मित्र अपने को मानता होगा वह अपने मित्र को दु ख मे रखकर स्वय सुखी नही बनना चाहेगा। इसलिए यदि आप सब जीवो को मित्र समान समझते हैं तो दु खीजन को देखकर उसके प्रति अन्त करण मे करुणाभावना धारण करो और उसका दु.ख अपना ही मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करो।

कदाचित् यह कहा जाये कि दुनिया दुखियो से भरी पडी है, ऐसी स्थिति मे किस-किस का दु ख दूर किया जाय ? ऐसा कहने वाले से यही कहा जा सकता है कि तुम जितने दुखियो का दु ख दूर कर सको, करो, मगर करुणाभावना तो सभी पर रखो। करुणाभावना रखने से अपनी ओर से तो तुमने उसका दु ख दूर किया ही है। तुम्हारे हृदय मे करुणा होगी तो कम से कम तुम किसी को कष्ट तो न पहुचाओगे। करुणाभाव धारण करने वाला पुरुष जिस पर करुणाभाव धारण करेगा, उसे दु.ख तो नही पहुचाएगा। वह उसके प्रति असत्य का व्यवहार नही करेगा, उसकी चीज नही चुराएगा। उसकी स्त्री को बुरी दृष्टि से नही देखेगा। उसके धन–वैभव पर ईर्षा नही रखेगा। तुम्हारे दिल में दया होगी तो दूसरे का दु.ख दूर करने का ही उपाय करोगे। डाक्टर सर्वप्रथम उसी रोगी की जाँच करता है जो अधिक बीमार होता है। इसी प्रकार तुम उस पर करुणा करो जो ज्यादा दुखी हो। करुणा करने

पर भी दुखी का दु:ख मिटे या न मिटे, पर तुम्हारा दु:ख तो मिटेगा ही। जो बहुत मे रोगियो का रोग मिटाता है, वह बडा डाक्टर माना जाता है। इसी प्रकार जो बहुतसे दुखियो का दु ख मिटाता है वह बडा दयालु कहलाता है और जो बडा दयालु होता है वह दूसरो पर अधिक करुणा करके अपने हृदय का अधिक दु ख मिटाता है।

किसी भी दुखी प्राणी की घृणा करना उचित नही। जिसके हृदय मे करुणा-भावना होती है वह किसी से घृणा नहीं करता। आजकल करुणाभावना की कमी के कारण दुखी जीवो के प्रति घृणा की जाती है, ऐसा देखा जाता है। आज शहरो मे बसने वाले लोग यह सोचते हैं कि शहर मे तो दुखी लोग बहुत है, किस–किस का दु ख दूर किया जाये? गाव मे तो कोई–कोई दुखी होता है। वहा किसी का दु ख दूर किया जा सकता है। मगर शहर मे किस–किस का दु ख दूर किया जाये! इस प्रकार का विचार करना नागरिक जीवन का दुरुपयोग करने के समान है। नागरिक जीवन का सदुपयोग तो तभी कहा जा सकता है जब दुखी को देखकर, उसके प्रति करुणाभाव लाया जाये और उसका दु:ख दूर करने का प्रयत्न किया जाये।

गुणीजनो को देखकर हृदय मे प्रमोदभावना लाना चाहिए, प्रसन्नता अनुभव करना चाहिए। तनिक भी ऐसा विचार नही करना चाहिए कि यह मनुष्य इतना सद्गुणी क्यो है? इसे इतना यश क्यो मिल रहा है? लोगो में इसका इतना सन्मान क्यो हो रहा है? गुणीजनो के प्रति सद्भावना न प्रकट करना अपने लिए दु ख उत्पन्न करने के

समान है। बहुत-से लोग गुणीजनो के छिद्र ढूढते रहते हैं, इतना ही नही, कितनेक छिद्रान्वेषी तो ऐसे होते है कि गुण को भी दोष का रूप देने मे नही हिचकते। यहाँ साम्प्रदायिक भेदभाव के कारण यह बात बहुत अधिक देखी जाती है। लेकिन गुणीपुरुषो के गुण देखने के बदले दोष देखना अपनी आत्मा को पतित करने के समान है।

चौथी मध्यस्थभावना है। किसी विपरीत वृत्ति वाले अर्थात् शत्रु या पापी को देखकर माध्यस्थभाव धारण करना चाहिए। सच्चा ज्ञानी वही है जो किसी पापी या नीच मनुष्य को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता। पापी को देखकर वह विचार करता है कि सूर्य की महिमा अन्धकार के कारण ही है—अन्धकार न होता तो सूर्य का क्या मूल्य ठहरता ? इसी प्रकार पाप के अस्तित्व से ही धर्म या पुण्य का महत्व है। पाप ही धर्म या पुण्य का महत्व वढाता है। पाप न होता तो धर्म का या पुण्य का भाव ही कौन पूछता ? इस तरह विचार कर ज्ञानीजन पापात्मा या नीच मनुष्यो के प्रति माध्यस्थ भावना रखते है। ऐसा करने वाला पुरुष अपनी ही चित्तशुद्धि करता है और इस प्रकार दुःख से मुक्त बन जाता है। इन चार भावनाओ को धारण करने से तृष्णा का निरोध और चित्त की शुद्धि होती है। भावनाशुद्धि द्वारा तृष्णा का निरोध करना दुःख से मुक्त होने का और अव्याबाध सुख प्राप्त करने का सच्चा और सरल उपाय है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष अनगारिता स्वीकार कर भावनाशुद्धि द्वारा तृष्णा का निरोध करता है

वह शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त हो जाता है। अनगार शारीरिक और मानसिक दुःखो से किस प्रकार मुक्त हो जाता है, इसके लिए गजसुकुमार मुनि का उदाहरण सर्वोत्तम है।

गजसुकुमार मुनि शरीर और अवस्था से कोमल थे। फिर भी जब सोमल ब्राह्मण ने उनके मस्तक पर धधकते अगार रखे तो ऐसे विकट समय में भी उन्होंने अपनी अन्तरात्मा मे अशुभ भावना उत्पन्न नही होने दी। असह्य कष्ट के अवसर पर भी उन्होने ऐसी शुभ भावना धारण की कि सोमल तो मेरे सयम की परीक्षा कर रहा है अर्थात सयम धारण करके मैं शारीरिक और मानसिक दुःख से मुक्त हुआ हू या नही, इस बात की जाच कर रहा है। इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धधकते अंगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण पर भी मध्यस्थभाव धारण किया। ऐसी मध्यस्थभावना से तृष्णा का नाश होता है और दुःख के मूल कारण—तृष्णा का नाश होने से दुःख का भी नाश हो जाता है। अगर आप दुःख का नाश करना चाहते है और अव्याबाध सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो भावना द्वारा तृष्णा का निरोध कीजिए। तृष्णा का निरोध करने मे ही कल्याण है।



चौथा बोल

गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषा

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन के संवेग, निर्वेद और धर्मश्रद्धा इन तीन बोलो पर विचार किया गया है। अब चौथे बोल 'गुरुसाधर्मिक शुश्रूषा' पर विचार करना है। इस विषय मे भगवान् से निम्नलिखित प्रश्न किया गया है।

मूलपाठ

प्रश्न — गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ॥ ४ ॥

उत्तर — गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाए णं विणयपडिवत्ति जणयइ, विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवगईओ निबंधइ, सिद्धिं सोग्गइ च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अन्ने य बहवे विणिइत्ता भवइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! गुरु और सावर्मी की शुश्रूषा से जीवो को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गुरु और सहधर्मी की सेवा–शुश्रूषा से विनीतता उत्पन्न होती है। विनययुक्त जीव अनासातनाशील होता है, अनासातनाशील जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव की दुर्गति से बच जाता है और जगत् मे यश–कीर्ति पाता हुआ अनेक गुण प्राप्त करता है तथा मनुष्य देवगति पाता है। सिद्धि और सद्गति के मार्ग को विशुद्ध करता है तथा विनय से सिद्ध होने वाले समस्त प्रशस्त कार्यो को साधता है और दूसरे बहुतो को उसी मार्ग पर चलाता है।

व्याख्यान

यह सूत्र का मूलपाठ है। नाम-सकीर्तन की महिमा वर्णन करते हुए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि नाम और परमात्मा को एक रूप देखना चाहिए। इसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे परमात्मा और आराधक को एक रूप देखने के लिए कहा है। यहा यह प्रश्न पूछा गया है कि

'भगवन् ! गुरु और सहधर्मी को सेवा-शुश्रूषा करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

इस प्रश्न पर विचार करते समय पहले यह देख लेना आवश्यक है कि गुरु किसे कहते हैं ? और किस उद्देश्य से गुरु बनाया जाता है ? गुरु शब्द का पदच्छेद करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि 'गु' शब्द अन्धकार अर्थ का द्योतक है और 'रु' शब्द अन्धकार नाश का द्योतक है। इस पद-

च्छेद के अनुसार 'गुरु' शब्द का अर्थ अन्धकार का नाशक होता है।

घर मे अन्धकार हो तो कितनी कठिनाई होती है, यह सभी जानते है। इस कठिनाई मे बचने के लिए घर मे दीया जलाया जाता है। घर मे दीपक न हो तो चोर और साहूकार का तथा रस्सी और साप का विवेक नहीं हो सकता। अन्धकार के कारण बहुधा विपर्यास भी हो जाता है और एक चीज के बदले दूसरी चीज मालूम होने लगती है। अन्धकार से उत्पन्न होने वाला यह विपर्यास प्रकाश द्वारा दूर होता है। प्रकाश द्वारा ही चोर अथवा साहूकार का, साँप या रस्सी का विवेक हो सकता है। आप रात्रि मे व्यापार करते हैं किन्तु यदि प्रकाश न हो और अन्धकार मे व्यापार किया जाये तो वह व्यापार भी प्रामाणिक नही माना जाता। इस प्रकार व्यवहार मे भी प्रकाश की आवश्यकता है। अन्धकार मे किया गया व्यावहारिक कार्य भी प्रमाण नही माना जाता। यह हुई द्रव्य-अन्धकार की बात।

जब द्रव्य-अन्धकार से भी इतना अधिक अनर्थ हो सकता है तो भाव-अन्धकार से कैसा और कितना अनर्थ उत्पन्न होता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। अज्ञान रूपी अन्धकार से न जाने कितने ज्यादा अनर्थ होते होगे। इस अज्ञान-अन्धकार ने ही ससार मे अन्धाधुन्धी फैला रखी है। साधु को असाधु, असाधु को साधु, देव को कुदेव, कुदेव को देव, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना आदि विपरीत

ज्ञान और श्रद्धान अज्ञान-अन्धकार के कारण ही होता है। जितने भी बुरे काम होते दिखाई देते है, वह सब अज्ञान-अन्धकार के ही कारण। ज्ञानियो ने अज्ञान की गणना भी क्षयोपशम मे की है। अज्ञान मे भी बुद्धि तो होती है, मगर वह उलटी होती है। पुरुप को ठूठ और ठूंठ को पुरुष समझना अज्ञान है, परन्तु वह है क्षयोपशम भाव। क्षयोपशम भाव के अभाव मे ससारी जीव कुछ जान ही नही सकता। इस प्रकार अज्ञान का अथ यहा कुत्सित ज्ञान या मिथ्याज्ञान है और वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम मे उत्पन्न होता है, अतएव क्षायोपशमिकभाव के अन्तगत है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो वह अज्ञान बन जाता है। इस विपरीत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान भी कहते है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्धकार दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अज्ञान दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। जा अज्ञान-अन्धकार हटाकर सच्चे ज्ञान का प्रकाश देता है वह गुरु है। गुरु कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध मे श्री सूयगडागसूत्र मे कहा है—'गुरु भले ही आर्य हो या अनार्य सुरूप हो या कुरूप हो, स्थूल शरीर वाला हो या दुवला-पतला हो, परन्तु उसमे अज्ञान-अन्धकार का नाश करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए।' जिसमे ज्ञान का प्रकाश देने की शक्ति हो, समझना चाहिए कि वही गुरु है। दीपक सोने का हो या चादी का हो, अगर प्रकाश न दे सके तो किस काम का? इसके विपरीत दीपक मिट्टी का

भले ही हो, अगर प्रकाश देता है तो काम का है । इसी प्रकार गुरु शरीर या रूप से कैसा ही क्यो न हो, अगर उसमे अज्ञान दूर करने की शक्ति है तो वह गुरु बन सकता है, अन्यथा नही । आजकल गुरु बनाते समय यह बात नही देखी जाती । आज सिर्फ ऊपर का रग-ढग देखा जाता है । मगर वास्तव मे अज्ञान का अन्धकार दूर करने वाला ही गुरु होना चाहिए ।

यहा यह कहा जा सकता है कि गुरु मे प्रकाश देने की योग्यता हो सो तो ठीक है, मगर वह यदि अपने ज्ञान से अनुसार स्वय बर्ताव न करता हो तो क्या करना चाहिए? हमे गुरु से ज्ञान का प्रकाश लेना है, फिर गुरु चाहे कैसा ही बर्ताव करे । उसके बर्ताव से हमे क्या प्रयोजन है ? क्या यह विचारसगत नही है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे जैनशास्त्र कहते है—जो पुरुष अपने ज्ञान के अनुसार व्यवहार नही करता, उसका ज्ञान भी अज्ञान है । ऐसा अज्ञानी गुरु तुम्हारे भीतर ज्ञान के बदले अज्ञान ही भरेगा ।

अहमदनगर मे एक नाटक-कम्पनी आई थी । वहा के लोग कम्पनी की मुक्तकण्ठ मे प्रशसा करते थे । कहते थे—आज तक ऐसी कम्पनी कभी नही आई । वह कम्पनी नाटक खेलकर लोगो को ऐसा रिझाती कि लोग प्रसन्न हो जाते थे । एक दिन मै जगल के लिए जा रहा था । सयोगवश नट भी उधर ही आये हुए थे । वह लोग आपस मे जो बातचीत कर रहे थे, वह सुनकर और उनकी ओछी हँसी-दिल्लगी सुनकर मैं चकित रह गया । मैंने सोचा-यह

लोग नाटक मे राम और हरिश्चन्द्र का पार्ट खेलते है, मगर इनके हृदय की भावना कितनी नीच है ! क्या इनकी नीच भावना का प्रभाव दर्शको पर नही पडता होगा ? पडे बिना कैसे रह सकता है ?

इसी प्रकार नाटकीय गुरु का प्रभाव क्या शिष्य पर नही पडता होगा ? जो अपने अन्तःकरण में ज्ञान को स्थान नही देता, जो ज्ञान के अनुसार आचरण नही करता, वह पुरुष शास्त्र के अनुसार गुरुपद का अधिकारो नही है। महात्माओ ने ऐसे लोगो की, जो कहते कुछ और तथा करते कुछ और है, निन्दा की है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है –

किं पुच्छसि साहूणं, तवं च नियम च संजमं च ।
तओ करिस्ससि वंदिय एव मे पुच्छिओ साहू ।।

एक मनुष्य साधु को देख रहा था, मगर उसने वन्दन नही किया । किसी ने उससे कहा साधु को देखता क्या है ? क्या उनका तप देखता है, नियम देखता है, सयम देखता है या ब्रह्मचर्य देखता है ?

आकृति देखते से यह बात समझी जा सकती है कि किसी मे अमुक गुण हैं या नही ? वृक्ष की जड दिखाई नही देती, फिर भी ऊपर से उसे हराभरा देखकर समझा जा सकता है कि इसकी जड अच्छी है । इसी प्रकार आकृति देखने मात्र से यह भी जाना जा सकता है कि इसमे तप, नियम, सयम, ब्रह्मचर्य आदि गुण हैं या नही ?

उस साधु को खडा-खडा देखने वाला विचार करता है कि मैं इन्हे अपना गुरु बनाना चाहता हू । अतएव मैं

इनके तप, नियम, संयम आदि गुण देखना चाहता हूं। जिसके द्वारा आत्मा सयम मे रखा जा सके वह तप कहलाता है। मर्यादा का पालन करना नियम है। आत्मा को वश मे रखना सयम है और आत्मा की वीर्यशक्ति को प्रकट करना ब्रह्मचर्य है।

इस प्रकार तप, नियम आदि गुणो को देखने वाले से किसी ने पूछा--क्या तुम तप, नियम आदि गुण देख रहे हो? तब देखने वाले ने कहा हा, पहले मैं साधु के तप आदि गुण देखता हू, तदन्तर उन्हे गुरु के रूप मे स्वीकार करता हू। यह सुनकर प्रश्न करने वाला बोला--इस प्रकार सर्वप्रथम गुणो की परीक्षा करने वाला कभी ठगा नही जा सकेगा।

इस सूत्रपाठ से यह बात समझनी चाहिए कि केवल नाटक के खेल की भाति ऊपर से ज्ञान का ढोंग बतलाने वाला, किन्तु स्वय ज्ञान के अनुसार आचरण न करने वाला गुरुपद का अधिकारी नही है। जो दूसरो को तो ज्ञान की बात बतलाता है, किन्तु स्वय तदनुसार व्यवहार नही करता, उसे आडम्बरी समझना चाहिए। यह बात दूसरी है कि स्वय वीतराग न होते हुए भी वीतराग का स्वरूप बतलावे, किन्तु ऐसी स्थिति मे उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैं अभी वीतराग नही हुआ हू, मै सिर्फ वीतराग के मार्ग का पथिक हू। इस प्रकार वीतराग-मार्ग का पथिक (मुमुक्षु) होकर वीतराग का मार्ग बतलाना योग्य ही है। परन्तु जो स्वय उस मार्ग का पथिक नही बनता और सिर्फ दूसरो को ही मार्ग बतलाता है, वह आडम्बरी है। आडम्बर करने

वाला पुरुष गुरुपद का गौरव नही प्राप्त कर सकता ।

शास्त्र के अनुसार ज्ञान और चारित्र — दोनो की आवश्यकता है । जिसमे ज्ञान और क्रिया दोनो हैं, वही गुरु बन सकता है । जिसमें ज्ञान होने पर भी क्रिया नही है या क्रिया होने पर भी ज्ञान नही है, वह गुरु नही बन सकता । जिस दीपक मे केवल बत्ती होगी या केवल तेल ही होगा, वह प्रकाश नही दे सकेगा । प्रकाश देने के लिए दोनो आवश्यक हैं । इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में अकेली क्रिया से या क्रिया के अभाव मे अकेले ज्ञान से कल्याण नहीं हो सकता । आत्मकल्याण के लिए दोनो आवश्यक हैं ।

यह गुरु का स्वरूप हुआ । साराश यह है कि अज्ञान-अन्धकार का नाश करने वाला ही गुरु कहलाता है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि साधर्मी किसे कहते है ? आप धर्म करें किन्तु क्या अकेले से धर्म चल सकता है ? नही । जिस खेत में चने का एक ही पौधा होता है, वह चना का खेत नही कहला सकता । जिसमे अनाज के पौधे अधिक होते है, वही अनाज का खेत कहलाता है । यही बात धर्म के विषय में भी समझनी चाहिए । धर्म का पालन करने वाले जब अनेक होते हैं तभी धर्म चल सकता है । अनेक मनुष्य धर्म पालने वाले न हो, सिर्फ एक ही मनुष्य किसी धर्म का पालन करे तो इस अवस्था मे धर्म का पालन होना कठिन हो जाता है । कल्पना कीजिए, किसी नगर में सब लोग चोर और लुटेरे बसते हो, कोई नीतिमान् मनुष्य न हो तो तुम्हारा जीवनव्यवहार वहा ठीक-ठीक चल सकता है ? नही । वहा नीतिमान् मनुष्य बसते हों तो तुम्हारा

जीवनव्यवहार सरलता–पूर्वक चल सकता है । इस प्रकार अपने नैतिक जीवन का व्यवहार सरल बनाने के लिए नीतिमान् लोगो की आवश्यकता है । जो मनुष्य प्रामाणिकतापूर्वक लेन–देन करता है, भले ही वह किसी भी जाति, का हो, आपको उस पर विश्वास होगा । इसके विरुद्ध जो प्रामाणिक नही है, वह आपका भाई ही क्यो न हो, आप उस पर विश्वास नही करेंगे । इस प्रकार व्यवहार मे भी सहधर्मी की आवश्यकता है ।

जैसे व्यवहारधर्म में सहधर्मी की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तरधर्म मे भी सहधर्मी की आवश्यकता रहती है । हम साधुओ को भी सहधर्मी की आवश्यकता है । अगर हमे सहधर्मी की सहायता प्राप्त न हो तो हमारा काम चलना ही कठिन हो जाये । उदाहरणार्थ— हमें श्रावक–श्राविका वगैरह की सहायता मिली है तब हमारा चातुर्मास यहां (जामनगर में) हो सका है और हम यहा रह सके है । इस प्रकार की सहायता हमे प्राप्त न होती तो कदाचित् भाद्रपद महीने मे भी हमे विहार करना पडता । भगवान् ने शास्त्र मे ऐसी आज्ञा दी है कि - हे साधुओ ! अगर तुम्हारे व्रत-सयम में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती हो तो तुम भाद्रपद महीने मे भी उस स्थान से अन्य स्थान पर विहार कर सकते हो ।

इस प्रकार हम लोगो के लिए भी साधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है और उनकी सहायता मिलने पर ही हम निर्विघ्नरूप मे अपने धर्म का पालन कर सकते है । साधु और श्रावक हमारे सहधर्मी है । साधु तो लिंग

(वेष) से भी सहधर्मी है और धर्म से भी सहधर्मी हैं, किंतु श्रावक सिर्फ धर्म से सहधर्मी है । कहा जा सकता है कि साधु अनगारधर्म का पालन करते है और श्रावक आगार-धर्म का पालन करते हैं । दोनो का धर्म जुदा-जुदा है । ऐसी स्थिति मे साधु और श्रावक सहधर्मी किस प्रकार कहे जा सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि श्रावको मे अणुव्रत होते हैं और साधु महाव्रतो का पालन करते है । अणुव्रत और महाव्रत परस्पर सबद्ध हैं अर्थात् अणुव्रत के आधार पर ही महाव्रत है और महाव्रत के आधार पर ही अणुव्रत हैं । इस प्रकार एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध के कारण ही साधु और श्रावक साधर्मी है । धर्म के पालन के लिए दोनो की आवश्यकता है । अणुव्रत का पालन न किया जाये तो महाव्रतो का पालन करना ही मुश्किल हो जाये । अगर कोई भी पुरुष अणुव्रती न हो तो हमे महाव्रतो का पालन करने में अतीव कठिनता हो । मान लीजिए कि आप सब लोग अगर मिल के ही वस्त्र पहनते हो तो हमें खादी के वस्त्र कहा से मिले ? इस प्रकार हमे महाव्रतो का पालन करने के लिए अणुव्रती श्रावको की सहायता की आवश्यकता रहती ही है । जैसे नीतिधर्म के होने पर ही लोकोत्तर धर्म का पालन हो सकता है, उसी प्रकार अणुव्रतो का पालन होने पर ही महाव्रतो का भलीभाति पालन किया जा सकता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र मे कहा है कि सर्वप्रथम लोकोत्तर धर्म का उच्छेद होगा और सब के अन्त मे लौकिक धर्म का उच्छेद होगा । इस सूत्र-कथन का आशय यही है कि प्रीति-धर्म का पालन न होने पर लोकोत्तर धर्म का भी पालन

नही हो सकता ।

मैं तुम्हारे ऊ र महाव्रतो के पालन करने का उत्तर-दायित्व नही लादता । मैं यह भी नही कहता कि तुम्हे महाव्रतो का पालन करना ही चाहिए । हाँ, इतना अवश्य कहता हू कि आप श्रावक कहलाते हो तो अणुव्रतो का भलीभाति पालन करो । उनके पालन मे किसी तरह की कोताई मत करो । अगर तुम अणुव्रतो का पालन न करो, तुम हिंसक, मिथ्यावादी, चोरी करने वाले और परस्त्रीगामी बन जाओ तो क्या तुम्हारे हाथ मे आहार लेना हमारे लिए उचित कहा जा सकता है ? लेकिन हम आहार न ले तो जाएँ कहा ? अतएव विवश होकर हमे आहार लेना पडेगा। तथापि वह आहार हमारे उदर मे जाकर किस प्रकार की दुर्भावना उत्पन्न करेगा ? और अगर तुम अणुव्रतो का पालन करते होओगे तो तुम्हारे हाथ से दिया आहार हमारे उदर मे पहुचकर कितनी सद्भावना उत्पन्न करेगा ? तुम्हारे अणु-व्रतो के पालन की पवित्रता हमारे महाव्रतो मे भी पवित्रता का सचार करेगी । तुम धर्म की दृष्टि से हमारे सहधर्मी हो तो अपने व्रतो का सम्यक् प्रकार से पालन करके, महा-व्रतो के पालन मे हमे सहकार दो ।

सहधर्मी की सहायता के बिना जीवन भी नही निभ सकता । जीवन के लिए भी अनेको की सहायता की आव-श्यकता रहती है । वृक्ष-वनस्पति यो तो मनुष्यो से दूर है, परन्तु विज्ञान का कथन है कि मनुष्य का जीवन वनस्पति की सहायता के आधार पर ही टिका हुआ है । मनुष्य समाज ऑक्सीजन हवा पर जीवित है । क्षणभर के लिए

भी मनुष्य को ऑक्सीजन वायु न मिले तो उसका जीवन दूभर हो जाये। ऑक्सीजन वायु मानवसमाज के लिए प्राण-वायु है, इसी प्राणवायु के आधार पर मनुष्य जीवित है। मनुष्य अपने भीतर ऑक्सीजन वायु खीचता है और उसके बदले कारबॉनिक हवा श्वास द्वारा बाहर निकालता है। अगर वह कारबॉनिक हवा ससार मे फैल जाये तो दुनिया के लोग जीवित न रहे। किन्तु वृक्ष-लता आदि वनस्पति मानो मानव-समाज की रक्षा के लिए, उस कारबॉनिक वायु को अपने अन्दर खीच लेते हैं और उसके बदले ऑक्सीजन हवा देते हैं। वृक्षो को ऑक्सीजन हवा की आवश्यकता नही है। उन्हे कारबॉनिक हवा चाहिए। इस प्रकार जो ऑक्सीजन वायु मानवसमाज के लिए प्राणवायु है, वही वृक्षो के लिए विषवायु है और जो कारबॉनिक वायु मानवसमाज के लिए विषैली है, वह वृक्षो के लिए प्राणवायु है। अब देखना चाहिए कि मानवसमाज पर वृक्षो का कितना उपकार है? तुम वनस्पति को तोडने-मरोडने के लिए उद्यत रहते हो, लेकिन वनस्पति का तुम्हारे ऊपर कितना महान् उपकार है! तुम उसका महत्त्व नही समझते। पाश्चात्य लोग धर्म को भले ही न जानते हो, पर वे शरीरव्यवहार को भलीभाति जानते हैं और इसी कारण अपने बगलो के बाहर वृक्षारोपण करते हैं। उनकी स्त्रियाँ वृक्षो की सिंचाई का भी काम करती है। वे लोग धर्म समझकर तो यह कार्य करते नही है, किन्तु जीवन के लिए वृक्षो को सहधर्मी मानकर उनका आरोपण, सिंचन आदि करते हैं, उन्हे भलीभाति मालूम है कि वृक्ष हमारे जीवन को प्राणवायु देते हैं, वे हमारे प्राणरक्षक है और इस कारण वे सहधर्मी हैं।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार व्यवहार मे सहधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार धर्म का पालन करने मे भी सहधर्मी की सहायता आवश्यक है।

जिस प्रकार तुम हमारे साधर्मी हो, उसी प्रकार श्रावक–श्रावक भी आपस मे सहधर्मी हैं। श्रावको को भी पारस्परिक सहायता की अपेक्षा रहती है। किन्तु कुछ लोगो का कहना है कि साधुओ की सेवा करना तो धर्म है, मगर श्रावक की सेवा करना पाप है। इस तरह कहने वाले लोग इतना भी नही सोचते कि अकेले मे तो धर्म भी नही टिक सकता। धर्म के लिए सहधर्मी की सहायता की आवश्यकता है और इस कारण साधर्मी की सेवा करना कल्याण का मार्ग है। साधुओ को श्रावको की सहायता की आवश्यकता है और श्रावको को साधुओ की सहायता आवश्यक है। परन्तु साधु और श्रावक लिंग से साधर्मी न होने के कारण साधु, श्रावको को सेवा नही कर सकते। मगर श्रावक, श्रावक की सेवा करे तो वह पाप का नही वरन् कल्याण का मार्ग है।

गुरु और साधर्मी किसे कहना चाहिए, इस विषय का विवेचन किया जा चुका। ऐसे सुपात्र गुरु और सहधर्मी को सेवा करने से महान् फल की प्राप्ति होती है। अतएव गुरु और साधर्मी की सेवा करके कल्याण प्राप्त करो।

तीसरे बोल मे धर्मश्रद्धा का फल बतलाया गया था और इस चौथे बोल मे गुरु और साधर्मी की सेवा की चर्चा की गई है। तीसरे और चौथे बोल के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार करने से स्पष्ट मालूम होता है कि जिसमें धर्म-

श्रद्धा होगी, वह गुरु और साधर्मी की मेवा करेगा ही। अर्थात् गुरु और साधर्मी की सेवा वही कर सकता है जिसमें धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा होगी। सच्ची श्रद्धा के अभाव मे सेवा-शुश्रुषा करना कठिन है। भर्तृहरि ने भी कहा है—

सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् - सेवाधर्म ऐसा गहना है कि वह योगियो के लिए भी कठिन है। इस प्रकार सेवा करना योगियो के लिए भी अत्यन्त कठिन माना गया है। किन्तु जिसमे धर्म-श्रद्धा होगी वह किसी कठिनाई का अनुभव किये बिना ही सेवा करेगा और गुरु तथा सहधर्मी की सेवा के पीछे अपना सर्वस्व अर्पण कर देगा।

गुरु और सहधर्मी किसे कहते है और उन दोनो का आपस मे क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध मे पहले कुछ विचार किया जा चुका है। यहा फिर प्रकाश डाला जाता है।

शास्त्र मे गुरु के मुख्य दो भेद किये गये हैं–लौकिक गुरु और लोकोत्तर गुरु। साधर्मी के भी ऐसे ही दो भेद हैं। पहले लौकिक गुरु के विषय मे विचार करें। इससे लोकोत्तर गुरु का भी परिचय मिल जायगा। श्री दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है

अप्पणट्ठा परट्ठावा सिप्पाणं वा गिहकारणा।
गिहिणो उवभोगट्ठा इहलोगस्सकारणा ॥
जेण बधं वह घोर परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा अच्छति जुत्ता ते ललिइंदिया ॥

दश० अ० ६, उ० २, गा० १३–१४।

अर्थात् शिष्य लोग इस विचार से शिल्पकला आदि का शिक्षण लेते हैं कि शिल्पकला के शिक्षण से अपने को तथा अपने कुटुम्बी अथवा आश्रितों को जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी और इस प्रकार ससार-व्यवहार भली-भाति निभ सकेगा।

शिल्पकला मे अनेक कलाओ का समावेश हो जाता है। दर्जी, सुतार, लुहार, सुनार आदि की कलाए शिल्पकला मे समाविष्ट हैं और इसलिए इस प्रकार की अन्यान्य कलाएँ भी शिल्पकला ही कहलाती है।

आज अक्षरज्ञान को अधिक महत्व दिया जाता है और पोथियाँ पढाई जाती है। किन्तु कोरे अक्षरज्ञान से क्या जीवन स्वतन्त्र-स्वावलम्बी बन सकता है? आज तो उलटा यही दिखाई दे रहा है कि कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण मे जीवन परतन्त्र बन रहा है। जीवन की इस परतन्त्रता का प्रधान कारण शिल्पकला की शिक्षा का अभाव है। जीवन को स्वतन्त्र बनाने मे शिल्पकला की शिक्षा की बडी आवश्यकता है। वस्तुत सच्ची शिक्षा वही है जो परतन्त्रता के बन्धनो से आत्मा को मुक्त करती है। 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे। मुक्ति, बन्धनो से ही होती है, अतएव परतन्त्रता के बन्धन तोडकर बन्धन-मुक्त करने वाली विद्या ही सच्ची विद्या है।

जीवन परतन्त्र न बने, इसलिए शास्त्रकारो ने ७२ कलाओ के शिक्षण का विधान किया है। बहत्तर कलाओं मे समस्त कलाओ का समावेश हो जाता है। जिसने बहत्तर कलाओ की शिक्षा ली होगी, वह कभी पराया मुँह नही

ताकेगा। उसका जीवन परतन्त्र नही, स्वतन्त्र होगा। मनुष्य को परतन्त्र बनाने वाली विद्या वास्तव मे विद्या ही नही है।

आज की कहलाने वाली विद्या प्राप्त करके भले ही थोडे से वकील या डाक्टर पैदा हो जाएं, मगर इतने मात्र से यह नही कहा जा सकता कि आधुनिक शिक्षा परतन्त्रता मिटाने वाली और स्वतन्त्रता दिलाने वाली है। थोडे मे डाक्टरो और वकीलों को अच्छी कमाई हो जाती है, इस कारण आज की शिक्षा अच्छा और परतन्त्रता दूर करने वाली है, यह कदापि नही कहा जा सकता। वास्तव मे आधुनिक शिक्षा स्वतन्त्रता दिलाने वाली नही है शिल्पकला का जानकार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आजीविका उपार्जन कर सकता है। कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण से स्वतन्त्रभाव से आजीविका नही चलाई जा सकती। यह बात तो आज स्पष्ट दिखाई देती है। इसी कारण आज अक्षरज्ञान के साथ शिल्पकला के शिक्षण की आवश्यकता है। आज सर्वत्र इस प्रश्न की चर्चा हो रही है। मानसिक शिक्षा के साथ शारीरिक–औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता रहती है। अक्षरज्ञान की शिक्षा के साथ शिल्पकला की शिक्षा दी जाये तो सरलतापूर्वक आजीविका चलाई जा सकती है और जीवन-व्यवहार स्वाधीनभाव से निभाया जा सकता है।

अक्षरज्ञान या शिल्पकला की शिक्षा पाने के लिए शिष्यो को गुरु की आज्ञा माननी पडती है और उनकी आज्ञा के अनुसार शिक्षा लेने से ही शिष्य शिक्षित बन सकता है। श्री दशवैकालिकसूत्र मे कहा है कि शिष्य लौकिक कला सिखलाने वाले लौकिक गुरु के आज्ञानुसार चलता है

और उनकी आज्ञा के अनुसार ही शिक्षा लेता है। प्राचीन काल मे लौकिक गुरु की आज्ञा का भी कितनी सुंदरता के साथ पालन किया जाता था, इस बात पर प्रकाश डालने वाले अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रन्थो मे देखे जाते हैं। श्रीकृष्ण को भी उनके लौकिक गुरु सादीपनी की पत्नी ने जगल मे लकडी काट लाने के लिए भेजा था। श्रीकृष्ण जैसे शिष्य भी गुरुपत्नी की आज्ञा शिरोधार्य कर जगल मे लकडी काटने गये थे।

जब लौकिक गुरु की आज्ञा का भी इस प्रकार पालन किया जाता है तो सूत्रज्ञान देने वाले लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का किस प्रकार पालन करना चाहिए ? यह बात सहज ही समझी जा सकती है। जब लौकिक और लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का पालन किया जाता है तभी उनके द्वारा दी हुई शिक्षा फलदायिनी सिद्ध होती है। ऐसा किये बिना शिक्षा सफल नही होती।

आज शिक्षक नौकर समझे जाते है। शिक्षक भी अपने आपको नौकर ही समझते है और जिस किसी उपाय से अपनी नौकरी बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भले ही उनके द्वारा किसी विद्यार्थी को लाभ पहुचे या नही। पहले विद्या का विक्रय नही होता था, आज विक्रय हो रहा है। इसी कारण विद्यार्थी को पढने और शिक्षक को पढाने मे जैसी चाहिए वैसी रुचि और प्रीति नही होती। फलस्वरूप विद्या फलदायिनी नही होती, जैसा कि आजकल देखा जा रहा है। विद्या ग्रहण करने मे विनय की और विद्या देने मे प्रेम की आवश्यकता रहती है।

विनय के बिना विद्या ग्रहण नही की जा सकती और प्रेम के अभाव मे विद्या चढती नही है । आज विद्यार्थियो में शिक्षको के प्रति विनयभाव नही देखा जाता, तब शिक्षको मे भी विद्यार्थियो के प्रति प्रेम का अभाव पाया जाता है । इस कारण विद्योपार्जन और विद्यादान दोनों ही नही देखे जाते । जैसे विद्योपार्जन के लिए विद्यार्थियो में विनय की आवश्यकता है, उसी प्रकार विद्यादान देने मे शिक्षको के हृदय मे प्रेम की आवश्यकता है । विद्योपार्जन करने के लिए विद्यार्थियो को शिक्षको का विनय करना चाहिए । जो विद्यार्थी शिक्षक की सेवा या विनय-भक्ति नही करता वरन् अवज्ञा करता है, वह अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनाता है । इसी प्रकार शिक्षको को भी, विद्यादान देने के लिए विद्यार्थियो के प्रति प्रेम और वात्सल्य का भाव रखना चाहिए। ऐसा करना ही विद्या की सच्ची उपासना करना है।

जिस प्रकार गुरु की सेवा शुश्रुषा करना आवश्यक है, उसी प्रकार सहधर्मी की सेवा-शुश्रुषा करना भी आवश्यक है । जैसे गुरु उपकारक है उसी प्रकार सहधर्मी भी उपकारक हैं । सहधर्मी के भी दो भेद है - लौकिक और लोकोत्तर । जैसे लौकिक गुरु और सहधर्मी की सेवा करना आवश्यक है, उसी प्रकार लोकोत्तर गुरु और सहधर्मी की सेवा-शुश्रुषा करना भी आवश्यक है । गुरु और सहधर्मी दोनो जीवनसाधना के पथप्रदर्शक होने के कारण उपकारक हैं और इसीलिए उनकी सेवा-शुश्रुषा करना भी आवश्यक है।

गुरु और सहधर्मी की शुश्रुषा करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते है—

गुरु और सहधर्मी की सेवा करने से सेवक को विनयगुण की प्राप्ति होती है। जिसमे सेवा करने की भावना होती है उसमे विनयगुण होता ही है। इस कथन के अनुसार गुरु और सहधर्मी की सेवा करने वाले मे भी विनयगुण आता है। यो तो विनय और सेवा एक ही बात है, परन्तु धर्म-श्रद्धा से उत्पन्न हुई सेवाभावना को शास्त्रकारो ने कदाचित् 'शुश्रुषा' नाम दिया है और सेवाभावना के क्रियात्मकरूप को 'विनय' कहा है। हृदय मे जब सेवाभाव होता है तभी विनय आता है। केवल ऊपर से नम्रता धारण करना विनय नही कहलाता, पर जो नम्रता सेवाभाव के साथ हो, उसी को विनय कहते हैं। विनय, सेवाभाव के साथ किस प्रकार होता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू-

दो मित्र है। उनमे एक भीख मागकर पैसा लाता है और दूसरा मेहनत द्वारा कमाई करके पैसा लाता है। तुम इन दो मित्रो मे से किसे अच्छा समझोगे ? निस्सन्देह तुम उसी को अच्छा मानोगे जो कमाई करके पैसा लाता है। भीख माँगने वाले को तुम अच्छा नही मानोगे। इसी प्रकार जो विनय गुरु और सहधर्मी की सेवा रूपी मेहनत करके प्राप्त किया जाता है, उसी विनय का महत्व है और ऐसा सेवायुक्त विनय ही लाभकारक सिद्ध होता है।

विनय का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि आठ कर्मो के कारण ससारचक्र मे भ्रमण करने वाले आत्मा को मुक्त करने के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'विनय' कहलाती है। यद्यपि विनय भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का है, किन्तु यहाँ लोकोत्तर विनय के साथ

सम्बन्ध होने के कारण उसी का वर्णन किया गया है। जो अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहता होगा, उसमे विनय भी होगा ही।

विनयगुण की प्राप्ति होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि विनयगुण की प्राप्ति से आत्मा मे अनासातना का गुण प्रकट होता है। अनासातना क्या है?

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र की प्राप्ति मे जो बाधक हो उसे आसातना कहते है। उदाहरणार्थ – जब लक्ष्मी तिलक काढने आये तब मनुष्य मुँह धोने चला जाये, या लक्ष्मी को लट्ठ मारकर भगा दे – उसे अपने पास न आने दे, इसी प्रकार जो आत्मा मे रत्नत्रय को न आने दे, वह आसातना दोष कहलाता है। जब आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी लक्ष्मी आने को होती है, तब यह आसातना दोष उन्हे रोकता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी को आत्मा मे न आने देने के लिए आसातना दोष डण्डे को तरह काम करता है।

आत्मा अनादिकाल से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, और सम्यक्चारित्ररूपी ऐश्वर्य का स्वामी है फिर भी वह अपने ही आसातना दोष के कारण अपने इस ऐश्वर्य को प्राप्त नही कर सकता। जैसे कोई मनुष्य अपने यहा आती हुई लक्ष्मी को लट्ठ मार कर भगा दे, या अपने घर का द्वार बन्द कर ले, और फिर दुखडा रोता फिरे कि मेरे यहा लक्ष्मी नही आती! तो ऐसी स्थिति मे दोषी कौन? इसी तरह जब आत्मा के पास ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी

लक्ष्मी आती है, तब आत्मा स्वय ही आसातना करके उसे रोक देता है और उसे आने नही देता। आत्मा को रत्नत्रय रूप लक्ष्मी तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा मे विनय हो और विनयगुण द्वारा अनासातना गुण प्रकट हो। जहां तक आत्मा आसातना रूपी द्वार बन्द किये रखता है तब तक आत्ममन्दिर मे ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी लक्ष्मी का प्रवेश नही हो सकता।

घर के सभी द्वार और खिडकिया बन्द कर दी जाएँ तो हवा या प्रकाश का किस प्रकार प्रवेश हो सकता है ? हालाकि प्रकृति हवा और प्रकाश देती है, मगर इस अवस्था मे वह भी किस तरह दे सकेगी ? यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से देखो। वैज्ञानिको का कथन है कि घर मे वायु और प्रकाश आना आवश्यक है। आजकल के लोग तो बडे-बडे मकान बनवाकर अभिमान से फूले नही समाते, परन्तु वैज्ञानिक कहते है कि वडा भारी विशाल मकान बनवाकर तुमने कुदरत के साथ लडाई मोल ली है। कुदरत का कोप होने पर बहुधा बडे-बडे मकान छोडने पडते हैं और जगल की शरण लेनी पडती है। यह विशाल भवन स्वास्थ्य का नाश करने वाले होते है। वैज्ञानिको के कथनानुसार बडे बडे मकान बनवा कर तुम घमड मत करो। बल्कि यह समझो कि ऐसा करके हमने कुदरत के साथ लडाई ठानी है और कुदरत से मिलने वाला लाभ गँवा दिया है।

इसी प्रकार शरीर पर ठास-ठास कर वस्त्र लादकर भी प्रकृति के साथ वैर बाधा जाता है और प्रकृति से मिलने वाले लाभ से लोग वचित होते हैं। इस उष्ण देश मे अधिक

सब जीव सद्गति पाने की ही अभिलापा करते हैं, परन्तु इस अभिलाषा के साथ विनम्र बनने की इच्छा नही करते है। यद्यपि विनम्रता धारण करने में किसी का किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही है, फिर भी आत्मा धर्म के समय अकड कर रहता है। आत्मा किस प्रकार अकडबाज बन जाता है, यह बात महावीर स्वामी ने शास्त्र मे बतलाई है।

ज्ञातासूत्र मे बतलाया गया है कि मेघकुमार ने भगवान् महावीर के निकट दीक्षा अगीकार की थी। वह सब से छोटे साधु थे, अत उन्हे सोने के लिए रात्रि मे सब से अन्त का स्थान मिला। मेघकुमार की शय्या अन्त मे होने के कारण रात्रि में उनकी शय्या के पास से जब साधु बाहर जाते-आते तो उनके पैर की ठोकर मेघकुमार को लगती। उन्हे आराम से नीद नही आई। साधुओ की ठोकरें लगने के कारण नीद न आने से वह सोचने लगे—'यह तो जान-बूझकर नरक की यातना भोगना है। यहा मेरी कोई कद्र ही नही करता। मै जब राजकुमार था तब यही साधु मेरी कद्र करते थे। जब मैं साधु हो गया हू तो कोई परवाह ही नही करता। उलटी इनकी ठोकरे खानी पड रही है। ऐसा साधुपन मुझमे नही पलने का। बस सुबह होते ही यह साधुपन छोडकर मै घर चल दूगा। लेकिन चुपचाप चला जाना ठीक न होगा। जिनके निकट मैने दीक्षा अगीकार की है, उन भगवान् की आज्ञा लेकर और उन्हे यह उपकरण सौंपकर अपने घर का रास्ता लूगा।

मेघकुमार ने रात के समय यह विचार किया और सुबह होते ही वह भगवान् के पास आ पहुचे। भगवान् तो

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उनसे क्या छिपा था ? वह पहले-से ही सब जानते थे । उन्होने अपने पास आये मेघकुमार से कहा 'मेघ ! रात्रि के समय साधुओ की ठोकरो के परिषह से घबराकर तुमने साधुपन छोडने और घर जाने का विचार किया है । इसलिए तुम मेरे पास आये हो ।'

मेघकुमार कुलीन थे । वह मन ही मन कहने लगे–'अच्छा ही हुआ कि मैं भगवान् के पास चला आया । भगवान् के पास आये बिना ही, परबारा चला गया होता तो बहुत बुरी बात होती , भगवान् तो घट–घट की जानते हैं । मेरे कहने से पहले ही उन्होने मेरे मन की बात कह दी है ।

इस प्रकार विचार करते हुए मेघकुमार ने भगवान् से कहा –'भगवन् आपका कथन सत्य है । मुझसे भूल हो गई है ।'

भगवान् ने कहा 'मेघ ! आज तुम इतने से कष्ट से घबरा गये, पर इससे पहले वाले भव मे तुमने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये हैं, इस बात पर जरा विचार करो । इससे पहले भव मे तुम हाथी थे । हाथी के उस भव मे दावानल से बचने के लिए तुमने घास–फूस आदि हटा कर एक मडल तैयार किया था और जगल मे दावानल सुलगने पर जब बहुत–से जीव अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से तुम्हारे बनाये मडल मे आने लगे, तब तुमने प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्वो पर करुणा करके उन्हे स्थान दिया था । इतना ही नही, खुजली आने पर जब तुमने अपना एक पैर ऊपर उठाया तो एक खरहा तुम्हारे पैर से खाली हुई जगह मे

कपड़ा लादने की आवश्यकता नही है। मगर आज शरीर पर तीन से कम कपडा पहनना फैशन के खिलाफ माना जाता है। लोग यह नही समझते कि अधिक कपड़ा पहनना शरीर-स्वास्थ्य को हानि पहुचाता है। अधिक वस्त्र धारण करके शरीर-स्वास्थ्य को हानि पहुचाना ही क्या फैशन है? यह फैशन नही, वरन् शरीर बिगाडने के लिए एक प्रकार का 'लेसन' (Lesson) है। फैशन-लेसन का पाठ न पढ़ने मे ही कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार घर के द्वार और खिडकिया बन्द कर रखने से घर मे हवा प्रकाश का आना रुक जाता है, उसी प्रकार आसातना दोष रूपी द्वार बन्द कर देने से आत्मा मे सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी का प्रवेश नही होता। आत्मा जब आसातना दोष से रहित होकर विनयशील एव अनासातनाशील बन जाता है तभी उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है।

सोने मे रत्न जडने के लिए सोने को कुन्दन बनाया जाता है अर्थात् विकार होने के कारण सोने मे जो कडकपन होता है, उसे अग्नि द्वारा दूर करके सोना नरम बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नो को जडने के लिए आत्मा को विनयशील और अनासातनाशील बनाने की आवश्यकता है। जब तक सोने का विकार हटाकर उसमे स्वाभाविक नरमाई न आये, तब तक सोने मे रत्न को पकड रखने की शक्ति नही आ सकती। यद्यपि कोई महापुरुष ही आत्मा मे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्न जड़ता है, परन्तु

आत्मा इन रत्नों को तभी पकड़ सकता है जब आत्मा में स्वाभाविक नम्रता आ जाती है। आसातना दोष के कारण आत्मा में एक प्रकार की अकड़ रहती है। यह अकड़ जब तक बनी रहती है तब तक आत्मा रत्नत्रय को नहीं पकड़ सकता। अतएव आत्मा को सब से पहले विनयशील और अनासातनाशील बनाने की आवश्यकता है।

अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय में कहा है कि अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा नरक, तिर्यंच और मनुष्य, देव की दुर्गतियों में से बच जाता है और सद्गति प्राप्त करता है। शास्त्रकारों ने नरक और तिर्यंचगति दुर्गति बतलाई ही है, मगर मनुष्यगति और देवगति में भी दुर्गति कही है। इस दुर्गति से बचने का उपाय अनासातना गुण ही है। आत्मा प्रत्येक गति में जा चुका है लेकिन उसमें अभी तक नम्रता नहीं आई और इसी कारण वह संसार में भ्रमण कर रहा है। आज भी बहुतेरे लोग लक्कड़ की तरह अकड़ कर रहते हैं। ऐसी अकड़ वाले लोगों की आत्मा में सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी त्रिरत्न किस तरह जड़े जा सकते हैं? इसीलिए जैसे माता अपने बालक को हितशिक्षा देती है उसी प्रकार शास्त्रकार हम लोगों को शिक्षा देते हैं कि— हे जीवो! अकड़ कर मत रहो अभिमानी मत बनो, नम्रता धारण करो। तुम में जैसे अकड़ कर रहने की शक्ति है, उसी प्रकार नम्र बनने की भी शक्ति है। फिर अकड़ में रहकर दुर्गति में किसलिये भ्रमण करते हो? और विनम्र बनकर दुर्गति के भ्रमण से क्यों नहीं बचते?

सब जीव सद्गति पाने की ही अभिलाषा करते है, परन्तु इस अभिलाषा के साथ विनम्र बनने की इच्छा नही करते है। यद्यपि विनम्रता धारण करने में किसी का किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही है, फिर भी आत्मा धर्म के समय अकड़ कर रहता है । आत्मा किस प्रकार अकडबाज बन जाता है, यह बात महावीर स्वामी ने शास्त्र मे बतलाई है।

ज्ञातासूत्र मे बतलाया गया है कि मेघकुमार ने भगवान् महावीर के निकट दीक्षा अगीकार की थी । वह सब से छोटे साधु थे, अत उन्हे सोने के लिए रात्रि मे सब से अन्त का स्थान मिला । मेघकुमार की शय्या अन्त मे होने के कारण रात्रि में उनकी शय्या के पास से जब साधु बाहर जाते-आते तो उनके पैर की ठोकर मेघकुमार को लगती। उन्हे आराम से नीद नही आई । साधुओ की ठोकरे लगने के कारण नीद न आने से वह सोचने लगे – 'यह तो जान-बूझकर नरक की यातना भोगना है। यहा मेरी कोई कद्र ही नही करता। मै जब राजकुमार था तब यही साधु मेरी कद्र करते थे । जब मैं साधु हो गया हू तो कोई परवाह ही नही करता ।, उलटी इनकी ठोकरे खानी पड रही है। ऐसा साधुपन मुझमे नही पलने का। बस सुबह होते ही यह साधुपन छोडकर मैं घर चल दूगा । लेकिन चुपचाप चला जाना ठीक न होगा । जिनके निकट मैने दीक्षा अगीकार की है, उन भगवान् की आज्ञा लेकर और उन्हे यह उपकरण सौपकर अपने घर का रास्ता लूगा।

मेघकुमार ने रात के समय यह विचार किया और सुबह होते ही वह भगवान् के पास आ पहुचे । भगवान् तो

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, उनसे क्या छिपा था ? वह पहले-से ही सब जानते थे। उन्होने अपने पास आये मेघकुमार से कहा 'मेघ ! रात्रि के समय साधुओ की ठोकरो के परिषह से घबराकर तुमने साधुपन छोडने और घर जाने का विचार किया है। इसलिए तुम मेरे पास आये हो।'

मेघकुमार कुलीन थे। वह मन ही मन कहने लगे- 'अच्छा ही हुआ कि मैं भगवान् के पास चला आया। भगवान् के पास आये विना ही, परबारा चला गया होता तो बहुत बुरी बात होती, भगवान् तो घट-घट की जानते है। मेरे कहने से पहले ही उन्होने मेरे मन की बात कह दी है।

इस प्रकार विचार करते हुए मेघकुमार ने भगवान् से कहा -'भगवन् आपका कथन सत्य है। मुझमे भूल हो गई है।'

भगवान् ने कहा 'मेघ ! आज तुम इतने से कष्ट से घबरा गये, पर इससे पहले वाले भव मे तुमने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये हैं, इस बात पर जरा विचार करो। इससे पहले भव मे तुम हाथी थे। हाथी के उस भव मे दावानल से बचने के लिए तुमने घास-फूस आदि हटा कर एक मडल तैयार किया था और जगल मे दावानल सुलगने पर जब बहुत-से जीव अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से तुम्हारे बनाये मडल मे आने लगे, तब तुमने प्राणियो, भूतो, जीवो और सत्वो पर करुणा करके उन्हे स्थान दिया था। इतना ही नही, खुजली आने पर जब तुमने अपना एक पैर ऊपर उठाया तो एक खरहा तुम्हारे पैर से खाली हुई जगह मे

आ बैठा। उस खरहे पर दयाभाव लाकर तुमने अढाई दिन तक अपना पैर ऊपर उठाये रखा था। इस नम्रता और करुणा की बदौलत ही तुम्हे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। हाथी के भव मे तो तुमने इतनी नम्रता और करुणा धारण की और इस भव मे साधारण से कष्ट सहन न कर सकने के कारण साधुपन छोडने को तैयार हो गए। पहले के कष्टो की तुलना मे यह कष्ट तो बहुत साधारण है। तिस पर पहले हाथी थे और अब मनुष्य हो। ऐसी स्थिति मे विचार करके तो देखो कि तुम्हे कितनी सहिष्णुता रखनी चाहिए।

हे मेघ! हाथी की पर्याय मे जीवो पर करुणा रखने और नम्रता धारण करने से इस भव मे तुम राजा श्रेणिक के पुत्र और मेरे शिष्य हो सके हो। हाथी के भव में इतनी अधिक सहनशीलता धारण की थी तो क्या इस भव मे थोडी-सी सहिष्णुता भी नही रख सकते? साधुओ की ठोकर लगने से ही साधुपन छोडने के लिए तैयार हो गये हो! क्या साधुपन त्याग देने से तुम सुखी बन जाओगे? मेघ! तुम इन सब बातो पर विचार करो और साधुपन त्यागने का विचार त्याग दो।'

भगवान् के वचन सुनकर मेघकुमार प्रभावित हुआ। उसने यहा तक निश्चय कर लिया कि सयम-पालन के लिए आवश्यक आँखो के सिवाय मेरा सारा शरीर साधुओ की सेवा के लिए समर्पित है। इस प्रकार की नम्रता धारण करने से मेघकुमार आयुक्षय होने पर विजय नामक विमान मे उत्पन्न हुआ। वहा से पुन मनुष्य-जन्म धारण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

कहने का अ शय यह है कि कभी-कभी आत्मा मे ऐसी कठोरता आ जाती है, तथापि आत्मा जितनी जल्दी नम्रता धारण करे, उतनी ही जल्दो सुगति प्राप्त करेगा। प्राचीनकाल के पुरुष धर्मकार्य के लिए कितने नम्र होते थे और धर्मकार्य मे कितना रस लेते थे और उसके लिए कितना उत्सर्ग करते थे, इस बात का विचार करो। आजकल तो किसी युक्ति से धर्मकार्य से बच निकलने मे ही बुद्धिमत्ता समझी जाती है। मगर यह सच्ची बुद्धिमत्ता नही है। हमारी समझ मे सच्ची बुद्धिमत्ता इनमे हैं—

सर जावे तो जावे, मेरा सत्यधर्म नही जावे।
सत्य के कारण रामचन्द्रजी, वनफल विनकर खावे ।।मेरा।।

यह तो पुराने जमाने की बात है। मध्यकाल मे भी ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ सुनी जाती हैं कि सत्यकर्म की रक्षा के लिए प्र.णो तक की परवाह नही की गई। सत्यधर्म की रक्षा करने के लिए सिखशिरोमणि तेगबहादुर ने प्राणो को भी निछावर कर दिया था।

तेगबहादुर की कथा औरगजेब के जमाने की है। औरगजेब बडा ही धर्मान्ध बादशाह था। वह किसी भी उपाय से लोगो को मुसलमान बनाना चाहता था। एक दिन कुछ लोगो ने उसे मुसलमान बनाने का उपाय सुझाया। वह उपाय यह था कि अगर लोगो को कष्ट झेलना पडे तो वे घबराकर मुसलमान बन जाएगे। अब प्रश्न हुआ कि कौनसा कष्ट पडने पर लोग मुसलमान बन सकेगे? इस प्रश्न के समाधान मे उसे सूझा— दुष्काल के समान और कोई कष्ट नही है। अगर दुष्काल का कष्ट पडे तो लोग जल्दी

मुसलमान बन सकते है । इस विचार के साथ ही उसने सोचा— मगर दुष्काल पडना तो कुदरत के हाथ की बात है । मुझमे यह किस प्रकार हो सकता है ?

मुस्लिम धर्म नही कहता कि किसी का बलात्कार से मुसलमान बनाया जाये या किसी पर अत्याचार किया जाये, मगर मनुष्य जब धर्मान्ध बन जाता है तो उसमे वास्तविक धर्माधर्म के या योग्यायोग्य के विचार करने की शक्ति नही रहती । राजा का धर्म तो यह है कि किसी सकट के समय प्रजा की सहायता करे, मगर औरगजेब तो धर्मान्धता के कारण उलटा दुष्काल बुलाने का विचार कर रहा है !

औरगजेब सोचने लगा अगर दुष्काल पड जाये और लोगो को अन्न न मिले तो वे जल्दी मुसलमान हो जायगे । लेकिन कुदरत का कोप हुए विना दुष्काल कैसे पड सकता है ! ऐसी दशा मे मैं अपना विचार अमल मे कैसे लाऊं ? विचार करते-करते आखिर वह कहने लगा — मैं बादशाह हू ? क्या बादशाहत के जोर से मैं अकाल पैदा नही कर सकता ? इस प्रकार सोचकर बादशाह ने करीब दो लाख सैनिक काश्मीर मे भेजे और वहा के धान्य से लहराते हुए खेतो पर पहरा बिठला दिया । किसान धान्य काटने आते तो उनसे कहा जाता —मुसलमान बनना मजूर हो तो धान्य काट सकते हो, वर्ना अपने घर बैठो । इस प्रकार अन्न कष्ट के कारण कितने ही किसान मुसलमान बन गये । जब बादशाह को यह वृत्तान्त विदित हुआ तो वह अपनी करतूत की सफलता अनुभव करके बहुत प्रसन्न हुआ । साथ ही उसने अन्य प्रान्तो मे भी यह उपाय आजमाने का निश्चय

किया। दूसरा नम्बर पजाब का आया।

पजाब मे बादशाह ने यही तरीका अख्तियार किया। लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगे। इस दुर्दशा के समय क्या करना चाहिए, यह विचार करने के लिए बहुत से लोग तेगबहादुर के पास आये और कहने लगे 'बादशाह ने सारे प्रान्त मे यह जुल्म आरम्भ कर दिया है। अब क्या करना उचित है?' गुरु तेगबहादुर ने कहा –'तुम लोग बादशाह के पास यह सन्देश भेज दो कि हमारा गुरु तेगबहादुर मुसलमान बन जायेगा तो हम सब भी मुसलमान हो जाएगे। कदाचित् वह मुसलमान न बने तो हम भी नही बनेंगे। आप तेगबहादुर को पकडकर उनसे पहले निबट लीजिए।'

तेगबहादुर की बात सुनकर लोग कहने लगे—यह सन्देश भेजने से तो आपके ऊपर आपदा आ पडेगी। मगर बहादुर तेगबहादुर ने कहा –'सिर पर आपत्ति आ पडे या प्राण चले जाएँ, तो भी परवाह नही। कष्ट सहन किये बिना धर्म की रक्षा कैसे हो सकती है?'

अन्तत लोगो ने उपर्युक्त सन्देश बादशाह के पास भेज दिया। बादशाह ने तेगबहादुर को बुला भेजा। वह जाने को तैयार हुए। उनके शिष्यो ने कहा—'आप हमे यही छोडकर कैसे जा सकते है? बादशाह आपके प्राण ले लेगा।' तेगबहादुर ने उत्तर दिया-यह तो मैं भी जानता हू। लेकिन, मेरे प्राण देने से औरो की रक्षा होती है, अगर मैं अपने प्राण बचाता हू तो दूसरो की रक्षा नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे अपने प्राण देना ही मेरे लिए उचित है। मेरे बलिदान से दूसरों की रक्षा होगी, यही नही वरन्

त्याग करने मे या धर्म की सौगन्ध खाने में सकोच नहीं करते। धर्म सौगन्ध खाने की चीज नही है। धर्म का सम्बन्ध प्राणो के साथ है। प्राण जैसा प्यारा लगता है उसी प्रकार धर्म प्यारा लगना चाहिए। धर्म जब प्राणो के समान प्रिय लगे तब समझना चाहिए कि हम मे धर्मश्रद्धा मौजूद है और जब धर्मश्रद्धा प्रकट होगी तो गुरु और सहधर्मी की सेवा-शुश्रूषा द्वारा विनयगुण और अनासातना गुण प्रकट हुए बिना नही रहेगा। अनासातना गुण प्रकट होकर वह आपको दुर्गति मे जाने से बचाएगा। यही नही वह सद्गति या सिद्धिगति को भी प्राप्त कराएगा। अनासातना गुण विनय की विद्यमानता मे ही प्रकट होता है। अतएव जीवन मे सब से पहले विनयगुण प्रकट करने की आवश्यकता है। विनय धारण करने मे अपना और पर का एकान्त कल्याण ही है।

गुरु और सहधर्मी की सेवाभक्ति करने से आत्मा विनयगुण प्राप्त करता है और विनयगुण मे आसातना दोष का नाश होता है। आसातना दोष नष्ट होने पर और अनासातना का गुण प्रकट होने पर आत्मा नरक और तिर्यंच की दुर्गति से बचकर देव और मनुष्य सम्बन्धी सुगति पाता है। मनुष्यो और देवो मे भी दुर्गति और सुगति दोनो प्रकार की गतियाँ होती हैं। पुण्य क्षीण होने से नीचे गिरना दुर्गति मे है और अधिकतर आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करना सुगति मे है। अर्थात् देवगति या मनुष्यगति पाकर जो आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करता है वह सुगति मे है और आत्मा का अकल्याण करने वाला दुर्गति मे है यद्यपि देवभव या मनुष्यभव पाकर भी दुःखी रहना दुर्गति है और

सुखी रहना सुगति है, परन्तु अनासातना द्वारा पौद्गलिक सुखो की आकाक्षा कदापि नही करना चाहिए । मनुष्य या देव होकर सुखी बनने का कार्य तो पुण्य से भी हो सकता है । इसीलिए शास्त्रकार यहा तक कहते है कि पुण्य से मनुष्यभव और देवभव मिल सकते हैं, पर अनासातना गुण प्रकट होने से सिद्धिरूपी सुगति प्राप्त होती है ।

यहा मनुष्यगति और देवगति सुगति कही गई है । मेरे खयाल से, यहा कारण मे कार्य का उपचार किया गया है । मनुष्यगति और देवगति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और इस कारण यह दोनो गतिया मोक्षप्राप्ति मे परम्परा-कारण हैं । मोक्षरूपी सुगति का कारण होने से इन गतियो को भी सुगति कहा है । यही कारण में कार्य का उपचार है ।

बहुतसे देव या मनुष्य देवगति या मनुष्यगति प्राप्त करके भी आत्मिक अकल्याण का कार्य कर बैठते हैं और इसी कारण पुण्य का क्षय होने पर वे पतित हो जाते हैं— अधोगति मे जाते हैं। इन पतित होने वाले देवो या मनुष्यों के लिए उनकी देवगति या मनुष्यगति भी सुगति नही है ।

परमात्मा के आराधक के विषय मे भगवान् ने कहा है कि वह जघन्य उसी भव मे मोक्ष जाता है और उत्कृष्ट १५ भवो मे, मगर वह नीचे नही गिरता । जैसे महल की एक-एक सीढी चढकर महल मे प्रवेश किया जाता है और थोडी सीढिया चढने से भी महल मे पहुचने का मार्ग तय होता है, उसी प्रकार सिद्धिरूप सुगति प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते जाना चाहिए । यह भी सुगति के मार्ग मे जाना

धर्मरक्षा के लिए प्राणार्पण करने की भावना भी जनता में जाग उठेगी ।'

इस प्रकार अपने शिष्यो को समझा–बुझाकर गुरु तेगबहादुर औरगजेब से मिलने गये । औरगजेब ने उन्हे मुसलमान बनने के लिए बहुत समझाया और प्रलोभन दिये । मगर तेगबहादुर ने बादशाह को यही उत्तर दिया – 'आपको अपना धर्म प्यारा है और मुझे अपना धर्म प्यारा है। धर्म-पालन के विषय मे किसी प्रकार का दबाव नही होना चाहिए । आप अपना धर्म पालें, मैं अपना धर्म पालू । अगर आपको अपने धर्म के प्रति इतना आग्रह है तो क्या मुझे अपने धर्म पर दृढ नही रहना चाहिए ?'

बादशाह बोला—'तुम्हारा धर्म झूठा है । अगर उसमें कुछ सचाई है तो दिखलाओ कोई चमत्कार !'

तेगबहादुर ने कहा—'चमत्कार बतलाना जादूगरो का काम है । परमात्मा का सच्चा सन्त चमत्कार दिखलाता नही फिरता ।'

बादशाह -'चमत्कार नही दिखा सकते तो यह क्यो नही कहते कि चमत्कार जानते ही नही हो ।'

तेगबहादुर – 'प्रकृति की प्रत्येक वस्तु मे चमत्कार भरा है । उस चमत्कार को देखो ।'

बादशाह कहने लगा—'अगर तुम मुसलमान धर्म स्वीकार नही करना चाहते तो मृत्यु का आलिगन करने के अतिरिक्त तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नही है ।'

तेगबहादुर—'मरने के लिए तो मैं तैयार ही हू ।

धर्म के लिए प्राण देने से अधिक प्रसन्नता की और क्या बात हो सकती है ?'

बादशाह ने हुक्म दिया—'तेगबहादुर को बाजार के बीचोबीच ले जाओ और वहाँ इसका सिर काट डालो।' सिर काटने के पश्चात् तेगबहादुर के गले मे एक चिट्ठी पाई गई। उसमे लिखा था सिर तो दिया, मगर शिखा नहीं दी। अर्थात् प्राणो का उत्सर्ग कर दिया किन्तु हिन्दूधर्म का त्याग नही किया।

इस उदाहरण को सामने रखकर आप अपने विषय मे विचार कीजिए कि आपने सत्यधर्म की रक्षा के लिए क्या दिया है ? पहले के लोग धर्मरक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, लेकिन धर्म नही जाने देते थे। आप में कोई ऐसा तो नही है जो थोडे से पैसो के लिए भी धर्म का त्याग कर देता हो ? जिस मनुष्य मे से नीति चली जाती है, उसमे धर्म भी नही रहता।

औरगजेब ने सोचा तो यह था कि तेगबहादुर को मरवा डालने से लोग जल्दी मुसलमान बन जाएँगे, लेकिन उसका विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध हुआ। तेगबहादुर के बलिदान ने लोगो मे एक प्रकार की धार्मिक वीरता उत्पन्न की। लोगो मे धर्म के लिए मर-मिटने की दृढता देखकर अन्त मे औरगजेब को बलात् मुसलमान बनाने का विचार छोड देना पडा।

इस उदाहरण को उपस्थित करने का आशय यह है कि धर्म के लिए सभी कुछ त्याग किया जा सकता है। आजकल अनेक लोग तुच्छ-सी बात के लिए भी धर्म क

त्याग करने मे या धर्म की सौगन्ध खाने मे सकोच नही करते। धर्म सौगन्ध खाने की चीज नही है । धर्म का सम्बन्ध प्राणो के साथ है। प्राण जैसा प्यारा लगता है उसी प्रकार धर्म प्यारा लगना चाहिए। धर्म जब प्राणो के समान प्रिय लगे तब समझना चाहिए कि हम मे धर्मश्रद्धा मौजूद है और जब धर्मश्रद्धा प्रकट होगी तो गुरु और सहधर्मी की सेवा-शुश्रूषा द्वारा विनयगुण और अनासातना गुण प्रकट हुए विना नही रहेगा। अनासातना गुण प्रकट होकर वह आपको दुर्गति मे जाने मे बचाएगा । यही नही वह सद्गति या सिद्धिगति को भी प्राप्त कराएगा । अनासातना गुण विनय की विद्यमानता मे ही प्रकट होता है । अतएव जीवन मे सब से पहले विनयगुण प्रकट करने की आवश्यकता है। विनय धारण करने मे अपना और पर का एकान्त कल्याण ही है।

गुरु और सहधर्मी की सेवाभक्ति करने से आत्मा विनयगुण प्राप्त करता है और विनयगुण मे आसातना दोष का नाश होता है । आसातना दोष नष्ट होने पर और अनासातना का गुण प्रकट होने पर आत्मा नरक और तिर्यंच की दुर्गति मे बचकर देव और मनुष्य सम्बन्धी सुगति पाता है। मनुष्यो और देवो मे भी दुर्गति और सुगति दोनो प्रकार की गतियाँ होती है। पुण्य क्षीण होने से नीचे गिरना दुर्गति मे है और अधिकतर आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करना सुगति मे है । अर्थात् देवगति या मनुष्यगति पाकर जो आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करता है वह सुगति मे है और आत्मा का अकल्याण करने वाला दुर्गति मे है यद्यपि देवभव या मनुष्यभव पाकर भी दुःखी रहना दुर्गति है और

सुखी रहना सुगति है, परन्तु अनासातना द्वारा पौद्गलिक सुखो की आकाक्षा कदापि नही करना चाहिए। मनुष्य या देव होकर सुखी बनने का कार्य तो पुण्य से भी हो सकता है। इसीलिए शास्त्रकार यहा तक कहते है कि पुण्य से मनुष्यभव और देवभव मिल सकते हैं, पर अनासातना गुण प्रकट होने से सिद्धिरूपी सुगति प्राप्त होती है।

यहां मनुष्यगति और देवगति सुगति कही गई है। मेरे खयाल से, यहा कारण मे कार्य का उपचार किया गया है। मनुष्यगति और देवगति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और इस कारण यह दोनो गतिया मोक्षप्राप्ति मे परम्परा-कारण हैं। मोक्षरूपी सुगति का कारण होने से इन गतियो को भी सुगति कहा है। यही कारण में कार्य का उपचार है।

बहुतसे देव या मनुष्य देवगति या मनुष्यगति प्राप्त करके भी आत्मिक अकल्याण का कार्य कर बैठते हैं और इसी कारण पुण्य का क्षय होने पर वे पतित हो जाते हैं— अधोगति मे जाते हैं। इन पतित होने वाले देवो या मनुष्यो के लिए उनकी देवगति या मनुष्यगति भी सुगति नही है।

परमात्मा के आराधक के विषय मे भगवान् ने कहा है कि वह जघन्य उसी भव मे मोक्ष जाता है और उत्कृष्ट १५ भवो मे, मगर वह नीचे नही गिरता। जैसे महल की एक-एक सीढी चढकर महल मे प्रवेश किया जाता है और थोडी सीढिया चढने से भी महल मे पहुचने का मार्ग तय होता है, उसी प्रकार सिद्धिरूप सुगति प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते जाना चाहिए। यह भी सुगति के मार्ग मे जाना

कहलाता है ।

आत्मा प्रशस्त विनय द्वारा ही सिद्धिगति की साधना कर सकता है और प्रशस्त विनय द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध कर सकता है । मुक्ति प्राप्त करने के लिए, विनय मे भी प्रशस्त विनय की ही आवश्यकता है जो मनुष्य किसी प्रकार के लोभ से या लालच से, कीर्ति अथवा बडप्पन पाने के लिए नम्रता धारण करता है, उसकी नम्रता प्रशस्त विनीतता नही कही जा सकती । प्रशस्त विनय वह है जिसमे किसी भी प्रकार का, तनिक भी लोभ या ऐसा कोई अन्य उद्देश्य न हो । इस प्रकार के लोभहीन विनय आदि गुण ही प्रशस्त हैं और वही मोक्ष के साधक है । जिसमे प्रशस्त विनय होता है, वह यह नही सोचता कि यह काम बडा है या यह छोटा है । उसकी निगाह मे सभी कार्य एक सरीखे है ।

घर के अनेक कामो में से कौन बडा और कौन छोटा है ? कमाई करने को बडा काम और भोजन बनाने को छोटा काम समझना क्या भूल नही है ? तुम व्यापार कर रहे हो लेकिन घर पर भोजन न बनाया गया हो तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो ? कामो में छोटे-बडे की कल्पना करके लोग अनेक अनावश्यक दुख बुला लेते हैं । साधुओ के लिए व्याख्यान देना बडा काम है या वैयावच्च (वैयावृत्य मुनियो की सेवा) करना बडा काम है ? किसी को छोटा-बडा मानने से ही विषमता उत्पन्न होती है । अतएव अपने में जो शक्ति है, उसी के अनुसार काम करना चाहिए और पारस्परिक सहकार से काम लेना चाहिए । कार्य में छोटे-बडे का भेद करना उचित नही है ।

छोटे-बडे की विषमता ने ही संसार मे बडी गडबडी मचा रखी है। उदाहरणार्थ–चार वर्णों में ब्राह्मण ऊँचा माना जाता है और शूद्र नीचा समझा जाता है। इस ऊँच-नीच के भेद-भाव ने भीषण विषमता उत्पन्न की है। वर्ग-व्यवस्था तो पहले भी थी, मगर पहले इस प्रकार का ऊँच-नीच का भाव नही था। यह भेदभाव तो पीछे से पैदा हुआ है। ग्रन्थो मे कहा है—भगवान् ऋषभदेव ने तीन वर्ण स्थापित किये थे और चौथा वर्ण भरत राजा ने कायम किया था। गीता मे कहा है

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः,
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम् ॥ ४-१४ ॥

अर्थात्–श्रीकृष्ण कहते हैं कि चारो वर्ण मैंने बनाये हैं। इस प्रकार वर्ण बनाने वाले भगवान् ऋषभदेव, भरत या कृष्ण हैं। क्या इन्होने किसी को नीच बनाया होगा? नीच तो वह बनाता है जो स्वयं नीच हो। क्या भगवान् ऋषभदेव, भरत या श्रीकृष्ण को नीच कहने का साहस किया जा सकता है? कार्य की दृष्टि से वर्णों की व्यवस्था की गई थी, क्योकि वर्ग बनाये बिना काम व्यवस्थित नही होता। इसी अभिप्राय से वर्ग या वर्ण की व्यवस्था की गई है, मगर उसमे ऊँच नीच की कल्पना पीछे का विकार है।

चार वर्णों की भांति संघ मे भी साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका यह चार भेद किये गये हैं। इस चतुर्विध संघ मे से किसे बड़ा कहा जाये और किसे छोटा माना जाये? क्या साधु ऊँच और साध्वियां नीच हैं? अथवा श्रावको का दर्जा ऊँचा और श्राविकाओ का नीचा है?

संघ मे इस प्रकार का भेदभाव नही है। यह चारो श्रमण-सघ के भेद हैं। यह सच है कि साधु, श्रावको की अपेक्षा आचारधर्म का पालन करते हैं, फिर भी श्रद्धा की दृष्टि से सब समान ही हैं और सब श्रमणसघ मे ही सम्मिलित है। श्रमणसघ अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर का सघ। सघ के यह चारो अग सभी कार्य सिद्ध कर सकते है और चारो के होने पर ही सब कार्य सिद्ध हो सकते हैं। यह भगवान् का कथन है। यद्यपि प्रत्येक विभाग अपना-अपना कार्य करता है किन्तु उसमे भी आपस की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। मस्तक का काम मस्तक करता है और पैर का काम पैर करता है। तथापि मस्तक को पैर के लिए और पैर को मस्तक के लिए यही समझना चाहिए कि यह काम मेरा ही है। इसी प्रकार सघ मे भी ऊच-नीच का भेद मानकर अनैक्य उत्पन्न करना योग्य नही है। सूत्र मे कहा है कि चौथा व्रत भग करने वाले साधु को आठवा प्रायश्चित्त आता है लेकिन सघ मे रहते हुए सघ मे तथा कुल मे रहते हुए कुल मे फूट पैदा करने वाला साधु दशवे प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस प्रकार सघ मे फूट एव अनैक्य पैदा करने का अपराध चौथा व्रत भग करने के अपराध से भी गुरुतर है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चौथे व्रत को भग करने वाला अपनी ही हानि करता है परन्तु सघ मे अनैक्य उत्पन्न करने वाला सम्पूर्ण सघ की और धर्म की भी हानि करता है।

कहने का मूल आशय यह है कि उच्च-नीच की कल्पित भावना से ऊपर उठकर जो मनुष्य विनय की आराधना करता है वही आत्मकल्याण साध सकता है। वास्तव

में दूसरों का कल्याण करने वाला अपना भी कल्याण करता है और जो दूसरो का कल्याण नही करता वह अपना भी कल्याण नही करता। विनयवान् पुरुष दूसरो को भी विनीत बनाता है और इस प्रकार भगवान् के धर्म का प्रचार करता है। विनय के द्वारा भगवान् का धर्म फैलाने वाला भगवान् के समान ही आदरणीय बन जाता है। उदाहरणार्थ एक पुरुष किसी डूबते को बचाता है और दूसरा एक डूबती हुई नौका को बचाता है। हालाकि नौका लकडी की बनी हुई है, फिर भी नौका की रक्षा करने वाला लकडी की नही वरन् नौका के आधार पर रहे हुए अनेक मनुष्यो की रक्षा करता है। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो समदृष्टि की रक्षा करता है, वही बडा है।

एक मनुष्य ऐसा है जो सिर्फ अपनी ही सार सँभाल रखता है और दूसरा सम्यग्दृष्टि की भी सार-सँभाल करता है और इसके लिए कटुक शब्द भी सुन लेता है। इन दोनो प्रकार के मनुष्यो मे से वही वडा है जो सम्यग्दृष्टि की सेवा करता है। सम्यग्दृष्टि की सेवा करते हुए कभी-कभी कटुक शब्द सुनने का भी अवसर आ जाता है। परन्तु सच्चा सेवाभावी पुरुष यही विचार करता है कि अगर मेरी निन्दा मे कुछ भी सचाई है तो निन्दा सुनकर मुझे अपनी निन्दनीय बात का त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर मेरी निन्दा मे तनिक भी सत्यता नही है तो यही समझना चाहिए कि मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म शेष हैं और उन्ही के कारण मेरी निन्दा हो रही है। ऐसी निन्दा से मेरी कोई हानि नही होने की। इससे तो मुझे

लाभ ही होगा। इस प्रकार विचार कर विनयवान् व्यक्ति प्रशस्त विनयधर्म पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार विनयमूलक धर्म, सिद्धि प्राप्त करने मे पथ-प्रदर्शक होता है। अगर तुम इस विनयमूलक धर्म का पालन करने में तन-मन से प्रवृत्त होओगे तो तुम्हे भी अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। तुम प्रात:काल जिन परमात्मा का स्मरण करते हो उन्होने भी विनयमुलक धर्म द्वारा ही आत्मा का कल्याण किया था उन महापुरुषो ने आत्म-कल्याण के साथ जगत् कल्याण करने का भी ध्यान रखा था। गीता में कहा है —

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥ ३-२१ ॥

पूर्ण महापुरुष के लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, तथापि वह क्रिया करना छोड नही बैठते है। भगवान् महावीर कृत्यकृत्य हो गये थे, फिर भी उन्होने जनपद-विहार करके जगत् के कल्याण का प्रयत्न किया था। इस प्रकार महान् पुरुष समस्त कार्य कर चुकने पर भी कार्य करना त्यागते नही हैं। क्योंकि अगर वह कार्य करना छोड दें तो उनकी देखादेखी दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लगे। साधारण जनता तो महान् पुरुषो का अनुकरण ही करना जानती है। साधारण लोग उसी मार्ग पर चलते हैं, जिस पर महापुरुष चलते हो। अतएव तुम्हे किसी भी समय धर्मकार्य का त्याग करना उचित नही है। धर्मकार्य करते रहने से जनता के समक्ष धर्मकार्य का ही आदर्श रहेगा। बड़े आदमी धर्म पर प्रीति रखेंगे तो दूसरे भी ऐसा ही

करेंगे । अगर स्त्रियाँ ही धर्म के पालन का दृढ निश्चय कर लें तो वह भी जगत् का बहुत कुछ हित कर सकती हैं । सतियाँ थोडी ही हुई हैं, मगर उन्होने अपने आदर्श व्यवहार से जगत् का अपरिमित हित किया है ,